गंगा-पुस्तकमाला का छप्पनवाँ पुष्प

निबंध-निचय

जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी

निबंध-निचय

संपादक

श्रीदुलारेलाल भार्गव

(माधुरी-संपादक)

हिंदी-साहित्य की कुछ चुनी हुई पुस्तकें

विश्व-साहित्य	१॥), २)	नवरस	॥)
हिंदी-नवरत्न	४॥)	साहित्यालोचन	२), ३)
देव और विहारी	१।॥), २।)	भाषा-विज्ञान	३)
भवभूति	॥=), १=)	हिंदी-भाषा का विकास	॥=)
पूर्ण-संग्रह	१।॥), २।)	विहारी-रत्नाकर	५)
हिंदी-साहित्य-विमर्श	१।)	मतिराम-ग्रंथावली	२॥)
हिंदी-निबंध-माला (२ भाग)	२)	आदर्शनिबंध-माला	१॥)
निबंधमालादर्श	॥=)	प्रबंध-रचना-शैली	॥=)
प्रबंध-पारिजात	॥=)	कालिदास और भवभूति	१॥)
साहित्य-मीमांसा	१॥)	रामचरितमानस की भूमिका	२।॥), ३), ३।)
साहित्य-परिचय	१), ।-)	हिंदी-मेघदूत-विमर्श	२)
प्राचीन-साहित्य	॥=)	मेघदूत-विमर्श	२॥)
कालिदास और शेक्सपियर	२)		

सब प्रकार की पुस्तकें मिलने का पता—

संचालक-गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय,

२९-३०, अमीनाबाद पार्क,

लखनऊ

गंगा-पुस्तकमाला का छप्पनवाँ पुष्प

निबंध-निचय

[चुने हुए साहित्यिक निबंध]

लेखक
जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी

प्रकाशक
गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय
२९-३०, अमीनाबाद-पार्क
लखनऊ

प्रथमावृत्ति

सजिल्द १।।।)]   १९८३   [सादी १।)

प्रकाशक

श्रीछोटेलाल भार्गव बी० एस्-सी०, एल्-एल० बी०

गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय

लखनऊ

मुद्रक

श्रीरामकिशोर गुप्त

साहित्य-प्रेस

चिरगाँव (झाँसी)

(३)

वक्तव्य

पं० जगन्नाथप्रसादजी चतुर्वेदी हिंदी के प्रसिद्ध लेखक और व्रजभाषा के सुकवि हैं। समय-समय पर आपके लेख भिन्न-भिन्न पत्र-पत्रिकाओं में निकलते रहते हैं। 'भारत-मित्र' पत्र से आपका विशेष संबंध था, और उसमें हास्य-विनोद-पूर्ण लेख आप प्रायः लिखा करते थे। आप बँगला-भाषा के भी अच्छे विद्वान् हैं, और उक्त भाषा की कुछ पुस्तकों का सुंदर अनुवाद भी आपने किया है। चतुर्वेदीजी 'समालोचक' भी हैं। आपको व्रजभाषा की कविता से बड़ा प्रेम है। हिंदी-साहित्य-सम्मेलन पर आपकी पूर्ण कृपा रहती है। एक बार लाहौर में आप उसके सभापति भी हो चुके हैं। आपकी मौलिक पुस्तकें भी छपी हैं। चतुर्वेदीजी हास्य-रस में शराबोर लेख बड़ी सफलता के साथ लिखते हैं। सच तो यह है कि आप मूर्तिमान् हास्य-रस हैं। आपका स्वभाव बड़ा ही सौम्य है। आप सहृदय, मिष्टभाषी और मिलनसार पुरुष हैं। बंगाल में हिंदी का प्रचार करने में आपने बड़ा उत्साह दिखलाया है। हिंदी-सेवा के लिये ईश्वर आपको चिरजीवी करे।

प्रस्तुत पुस्तक—'निबंध-निचय'—में पं० जगन्नाथप्रसादजी चतुर्वेदी के सात निबंधों का संग्रह है। पहला निबंध सब से छोटा, केवल ४ पृष्ठ का, है, और अंतिम सब से बड़ा, ८८ पृष्ठ का। पहला प्रयाग के 'अभ्युदय' पत्र में प्रकाशित हो चुका है, तथा अंतिम आपका वह अभिभाषण है, जो आपने बिहार के प्रादेशिक साहित्य-सम्मेलन के मंच पर—सभापति की हैसियत से—पढ़ा था। शेष पाँच निबंध क्रम से प्रयाग, जबलपुर, इंदौर और बंबई

में होने वाले साहित्य-सम्मेलनों के अधिवेशनों में पढ़े गए थे। इन निबंधों में संवत् १९६८ के पहले का कोई निबंध नहीं है। 'निबंध-निचय' में संगृहीत निबंधों में हिंदी के व्याकरण और ब्रजभाषा-कविता के सौंदर्य पर ख़ासा प्रकाश डाला गया है। चतुर्वेदीजी ने 'अनुप्रास का अन्वेषण'-शीर्षक एक निबंध साहित्य-सम्मेलन में पढ़ा था। लोगों ने उसे बहुत पसंद किया था। यहाँ तक कि वह कई परीक्षाओं के पाठ्यक्रम में भी आ गया था। उक्त निबंध भी प्रस्तुत पुस्तक में संगृहीत है।

अँगरेज़ी-साहित्य में प्रसिद्ध लेखकों के छोटे-छोटे निबंधों का बड़ा आदर किया जाता है। कभी-कभी तो बड़ी रचनाओं से भी लोग निबंधों को अधिक महत्त्व देते हैं। यही कारण है कि अँगरेज़ी का निबंध-साहित्य ख़ूब उन्नत और परिपुष्ट है। हिंदी में अभी निबंधों का पर्याप्त आदर नहीं है। फिर भी लोक-रुचि का झुकाव अब निबंध-साहित्य की ओर भी हो रहा है, और हिंदी के प्रसिद्ध लेखकों की निबंधावलियाँ क्रमशः निकल रही हैं। यह बड़े ही सौभाग्य की बात है। हम भी इस 'निबंध-निचय' को इसी उद्देश्य से निकाल रहे हैं कि हिंदी के निबंध-साहित्य की उन्नति हो, और इस प्रकार के साहित्य-निर्माण में पं० जगन्नाथप्रसादजी चतुर्वेदी ने जो-कुछ काम किया है, वह सुरक्षित रहे। साथ ही यह भी कि वर्तमान तथा भविष्य-काल के लेखकों को उससे शिक्षा और प्रोत्साहन मिले। यदि अपने इस उद्देश्य में आंशिक रूप से भी सफल हो सके, तो हम निबंध-साहित्य को और भी अधिक परिमाण में प्रकाशित करने का उद्योग करेंगे। आशा है, हिंदी-साहित्य-संसार 'निबंध-निचय' को अपनाकर साहित्य-सेवा के मार्ग में और भी द्रुत गति से अग्रसर होने का हमें अवसर देगा। तथास्तु।

लखनऊ;
५।३।२६ } दुलारेलाल भार्गव

विषय-सूची

निबंध-निचय

—❀—

विचारणीय विषय❀

इस शीर्षक का एक लेख गत ज्येष्ठ शुक्ल १२ के "अभ्युदय" में 'एक हिंदी-प्रेमी' के नाम से निकला है। सारदा बाबू की तरह 'प्रेमी' महाशय भी हिंदी-भाषा के विभक्ति-प्रयोग और लिंग-भेद को दूरीकृत करने के परमाभिलाषी मालूम होते हैं। आप लोगों की धारणा है कि हिंदी-भाषा में यही बड़ा भारी काठिन्य है। यही काठिन्य हिंदी के राष्ट्र-भाषा होने में बाधा डालता है। इसके कारण इतर भाषा-भाषी ही नहीं हिंदी-भाषा-भाषी भी निन्नानवे के फेर में पड़े हैं। अपनी बात को पुष्ट करने के लिये प्रेमीजी ने हिंदी के पत्र-संपादकों और लेखकों की रचनाओं से कुछ ऐसे वाक्य उद्धृत किए हैं, जिनमें लिंगों की गड़बड़ के सिवा 'ने' विभक्ति की भी खूब ही छीछालेदर हुई है। इन्हीं वाक्यों की दुहाई देकर आप हिंदी को इस दोष से मुक्त करने की सलाह देते हैं।

परंतु अफ़सोस है, आपकी इस सुंदर संमति को मानने के लिये मैं प्रस्तुत नहीं हूँ। हिंदी अति सरल भाषा है। उसमें कठिनता की

❀ आषाढ़-शुक्ल ३, सं० १९६८ के अभ्युदय में प्रकाशित।

गंध तक नहीं है। जो उसमें कठिनता बतलाते हैं, वे भूलते हैं। वे रस्सी को सर्प समझते हैं। संसार का कोई भी काम विना सीखे नहीं आता। सुशिक्षा की हर जगह ज़रूरत है। हिंदी में सुशिक्षा का अभाव है। इसी से उसमें विभक्ति-प्रयोग और लिंग-भेद की कठिनता दिखलाई देती है। सुशिक्षा होने से वह आप ही दूर हो जायगी। यह कहना सरासर भूल है कि हिंदी-भाषा-भाषी भी लिंग-भेद के कारण निन्नानवे के फेर में पड़ते हैं। हिंदी जिनकी भाषा है, अथवा जिन्होंने हिंदी की शिक्षा पायी है, वे कभी फेर में नहीं पड़ते हैं। फेर में वे ही पड़ते हैं, जिनकी भाषा न तो हिंदी है और न हिंदी सीखने की जिन्होंने कभी चेष्टा की है। दुर्भाग्य-वश आजकल हिंदी में ऐसे ही लेखकों और संपादकों की संख्या अधिक है। इसी से प्रेमीजी को रचना-वैचित्र्य दिखाने का अवसर मिल गया है। हिंदी का कोई धनी-धोरी तो है नहीं। वस, जिसके मन में आता है वही संपादक और सुलेखक बन जाता है। कोई तो अँगरेज़ी के साँचे में हिंदी को ढालता है, और कोई उर्दू या संस्कृत के। वस, इसी से यह सारा गड़बड़ाध्याय है। जिन्होंने हिंदी पढ़ी है, और उसकी बारीकियों को समझा है, अथवा जो हिंदी जाननेवालों की संगति में रहे हैं, वे ऐसी गड़बड़ नहीं करते। उनकी हिंदी ठीक वैसी ही होती है, जैसी हिंदी-भाषा-भाषियों की।

हिंदी के लिंग-भेद-संबंधी कठिनाइयों को दूर करने के बदले उसकी सुशिक्षा का प्रबंध करना चाहिए। शिक्षा के प्रताप से भारतवासी अँगरेज़ी-जैसी दुरूह भाषा सीखकर जब अँगरेज़ों के भी कान काटते हैं, तो हिंदी उनके लिये क्या चीज़ है। शिक्षा का

प्रबंध होने से हिंदी तो अनायास आ जायगी। मेरी राय में एक ऐसी समिति बना ली जाय, जिसके सभासद् हिंदी के दो-चार मर्मज्ञ विद्वान् हों। इसका काम वर्ष में एक या दो बार हिंदी के परीक्षार्थियों की परीक्षा लेकर प्रशंसापत्र देना हो। जिसके पास इस समिति का प्रशंसापत्र हो, वही हिंदी का वास्तविक विद्वान् और लेखक समझा जाय। इन्हीं परीक्षोत्तीर्ण लोगों में से पत्र-संपादक भी नियुक्त हुआ करें। यह नियम हो जाने से हिंदी की लिखावट में जो गड़बड़झाला आजकल दिखलाई देता है, वह न रहेगा। हमें आलस्य त्याग कर उद्योग करना चाहिए। हिंदी का अंगच्छेद करने के वदले उसकी शिक्षा का प्रवंध करना ही अधिक समीचीन है।

एक वात और कह कर इस लेख को समाप्त करता हूँ। प्रेमी-जी कहते हैं—"वावू हरिश्चंद्र ने अपनी पुस्तकों में "कृपा किया", "आज्ञा दिया" आदि वाक्य लिखे हैं। पंडित वालकृष्ण भट्ट भी ऐसा ही करते हैं।"

हरिश्चंद्रजी ने ऐसा लिखा या नहीं, इसमें संदेह है। उनके विषय में मैं कुछ कह भी नहीं सकता; क्योंकि अव वह नहीं हैं। पर इतना अवश्य कहूँगा कि उनके इन प्रयोगों का अनुकरण न करना चाहिए। रही श्रद्धेय भट्टजी की वात, वह हमारे पूज्य और भक्ति-भाजन हैं। उनके प्रयोगों को अशुद्ध वताना धृष्टता होगी। किंतु आश्चर्य इस वात का अवश्य है कि वह ऐसा क्यों करते हैं। कभी-कभी अभ्यास-दोष से भी ऐसी भूलें हो जाया करती हैं। जो हो, मेरी आंतरिक इच्छा यही है कि ऐसे प्रयोग इन वृद्ध विद्वानों तक ही रहें, आगे न बढ़ने पावें।

आत्मा, बूँद और रामायण को पुल्लिंग लिखना प्रचलित हिंदी के बिलकुल विरुद्ध है। आत्मा संस्कृत में पुल्लिंग अवश्य है, परंतु हिंदी में वह बहुत दिनों से स्त्री-लिंग है। स्वामी दादूदयालजी अपनी विनती में कहते हैं—

"तन मन निर्मल आत्मा, सब काहू की होय;
दादू विषय विकार की, बात न बूझै कोय।"

'समझना' क्रिया सकर्मक और अकर्मक, दोनों है। दौड़ना और रोना अकर्मक हैं, परंतु "दौड़ दौड़ी" और "रोना रोया" में उनका प्रयोग सकर्मक-सा हुआ है। ये सब मज़ाक की बातें नहीं हैं; व्याकरण की बारीकियाँ हैं।

हिंदी की वर्तमान अवस्था *

वर्तमान हिंदी व्रजभाषा का रूपांतर है। व्रजभाषा-रूप में इसके पद्य-भाग की उन्नति हुई थी, और अब गद्य की हो रही है। उस समय गद्य लिखने की परिपाटी प्रायः नहीं के बराबर थी। जिसे जो कुछ लिखना होता, वह पद्य में ही लिखता। यही बात संस्कृत में भी थी। पद्य की चाल यहाँ तक बढ़ी कि कोष, ज्योतिष और वैद्यक-जैसे शुष्क एवं नीरस विषयों की रचना भी पद्य में हो गई। पर अब हवा बदल गई है। लोगों का ध्यान अब गद्य की ओर गया है। अस्तु, गद्य लिखने की ही चाल अधिक है। आशा है, थोड़े दिनों में इसकी अच्छी उन्नति हो जायगी।

आजकल की हिंदी के आदि लेखक कविवर लल्लूलालजी हैं। उन्होंने 'प्रेमसागर' नाम की पुस्तक लिखकर हिन्दी-गद्य की नींव डाली है। इसके बाद राजा लक्ष्मणसिंह ने "शकुन्तला" का हिंदी में गद्य-पद्य-मय अनुवाद किया। उस समय तक इस नयी हिंदी का प्रचार अच्छी तरह नहीं हुआ था। पीछे स्वर्गीय भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र का जन्म हुआ। आपके समय में इसका अधिक प्रचार हुआ। आपने मानों इसमें जान डाल दी। आजकल जिस हिंदी में हम लिखते-पढ़ते हैं, तथा समाचारपत्र निकलते और पुस्तकें बनती हैं, वह भारतेंदुजी की ही चलाई है। यदि भारतेंदु

---

* संवत् १९६८ में प्रयाग के द्वितीय हिंदी साहित्य-सम्मेलन में पढ़ा गया।

बाबू हरिश्चंद्र का जन्म न होता, तो हिंदी जहाँ-की-तहाँ विलीन हो जाती, और आज मुझे इसकी वर्तमान अवस्था पर निबंध लिखने का अवसर न मिलता।

लल्लूलालजी ने हिंदी का जो नया मार्ग निकाला था, उसे राजा लक्ष्मणसिंह ने साफ़-सुथरा किया, और भारतेंदु स्वयं उस पर चले, तथा औरों को भी उन्होंने अपना साथी बनाया। यों कहिए कि लल्लूलाल ने हिंदी की मूर्त्ति गढ़ी, राजा लक्ष्मणसिंह ने उसे खराद पर चढ़ाया, और भारतेंदु ने उसमें केवल प्राणसंचार ही नहीं किया, प्रत्युत उसे वस्त्रालंकार से भूषित भी किया। इसी से भारतेंदुजी वर्तमान हिंदी-साहित्य के जन्मदाता कहे जाते हैं।

अस्तु, हिंदी की दो अवस्थाएँ हैं—बाहरी और भीतरी।

बाहरी अवस्था

बाहरी अवस्था तो संतोषजनक है। इसका प्रचार इस समय देशव्यापी हो रहा है। हलक़ से बोलनेवाले अरब, चीं-चीं करनेवाले चीनी, विचित्र बोली बोलनेवाले मद्रासी और अजीब लहज़ावाले पंजाबी, वे सब हिंदी ही में अपने-अपने मन का भाव प्रकट करते हैं। बंगाल में भी हिंदी का प्रचार बढ़ता जाता है। वहाँ के नाटककार तथा उपन्यास-लेखक अपनी-अपनी पुस्तकों में चाहे जिस कारण से हो, हिंदी को बहुधा स्थान देते हैं। इस काम में वे हिंदी-भाषा-भाषियों से सहायता नहीं लेते। वे स्वयं हिंदी लिखकर प्रसन्न होते, कहते हैं कि "आमी बेश हिंदी लिखी" अर्थात् मैं अच्छी हिंदी लिखता हूँ। वे गद्य ही नहीं, पद्य भी लिखते हैं। नमूने के लिये एक गीत नीचे उद्धृत किए देता हूँ। यह ऐसे वैसे आदमी का नहीं,

बंगाल के "नटकुल-चूड़ामणि" स्वयं बाबू गिरीशचंद्र घोष का बनाया है। वह गीत सुनिए—

"राम रहीम ना जूदा करो,
दिल को साँचा राखो जी;
हाँ जि, हाँ जि करते रहो,
दुनियादारी देखो जी।
जब येसा तब तेसा होये,
सदा मगन में रहेना जी;
मट्टि में ईया बदन बनि हाय,
ईयाद हर दम राखना जी।
जब तक सेको फरक रहो भाई,
इस इस काम में माना जी;
केया जाने कब दम छुटेगा,
उसका नेहि ठिकाना जी।
दुशमन तेरा साथ फिरता,
देखो भाई, सब उसको जी;
दुशमन से बाँचाने उयाले,
उन बिन हाय नेई कोईजी॥"

(आबू हुसैन)

यह तो हुआ पद्य। अब ज़रा गद्य की भी चाशनी देख लीजिए। सरकस के विज्ञापनों में वह लिखते हैं—"नामजादा पालवान घोंड़ा का पीठ में नई-नई तमाशा और खेल दिखायेंगे इत्यादि।" वह शुद्ध हिंदी लिखते हैं या अशुद्ध, यह दिखाने का मेरा उद्देश्य यहाँ नहीं है। मेरा कहना केवल यही है कि वे हिंदी लिखते हैं, और हिंदी का

उनमें प्रचार है;—अशुद्ध ही सही, लेकिन लिखते तो हैं। भगवान् चाहेगा, तो पीछे शुद्ध भी लिखने लगेंगे। यहाँ एक प्रश्न यह उठता है कि बंगाली लोग अपनी पुस्तकों में पंजाबी, गुजराती, तेलगू आदि भाषाओं को स्थान न देकर हिंदी को ही क्यों देते हैं? इसका कारण यह है कि हिंदी सरल भाषा है। इसे अनायास सीखकर लोग अपना काम निकाल लेते हैं। और भाषाओं में यह बात नहीं है। इसके सिवा इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि वे हिंदी को ही शायद राष्ट्रभाषा होने के योग्य समझते हैं; क्योंकि अधिकांश भारतवासी ऐसा ही समझते हैं, और उसके लिये चेष्टा भी कर रहे हैं।

प्रत्येक प्रांत के विद्वान् इसकी उपयोगिता स्वीकार कर चुके और कर रहे हैं। ईसवी सन् १९०९ में बड़ोदे में हिंदीपरिषद् हुई थी। उसमें भी सबने एक स्वर से हिंदी को ही राष्ट्रभाषा माना था। स्वर्गीय रमेशचंद्र दत्त ने वहाँ अपने भाषण में कहा था—

"If there is a language, which will be accepted in a larger part of India, it is Hindi."

अर्थात् यदि ऐसी कोई भाषा है, जो भारत के अधिकांश भाग में स्वीकृत हो सकेगी, तो वह हिंदी है। हिंदीपरिषद् के सभापति बंबई के सुप्रसिद्ध विद्वान् डाक्टर भण्डारकर ने भी कहा था—

"The honour of being made the common language for inter-communication between various provinces must be given to Hindi. There does not seem to be much difficulty to make Hindi accepted by all throughout India."

अर्थात्, "भारत के भिन्न-भिन्न प्रांतों को आपस में बातचीत करने के लिये साधारण भाषा होने का गौरव हिंदी को अवश्य ही मिलना चाहिए। भारतवर्ष में सर्वत्र हिंदी का प्रचार करने में मुझे अधिक कठिनाई दिखलाई नहीं देती।"

ग्वालियर के भूतपूर्व न्यायाधीश (चीफ़ जस्टिस) राव बहादुर चिंतामणि विनायक वैद्य, एम. ए., एल एल.बी., ने कहा—

Hindi is from every point of view by far the most suitable language to be selected as the *Lingua-Franca* of India.

अर्थात्, हिंदी ही सब प्रकार से भारत की राष्ट्र-भाषा होने के योग्य है।

बंगभाषा के प्रसिद्ध लेखक स्वर्गीय राय बंकिमचंद्र चटर्जी बहादुर अपने "बंगदर्शन"-नामक मासिकपत्र के पाँचवें खंड में बंगालियों को संबोधन कर लिखते हैं—

"इँराजी भाषा द्वारा याहा हउक किंतु हिंदि शिक्षा ना करिले कोनो क्रमेई चलिबेना। हिंदि भाषाय पुस्तक ओ वक्तृता द्वारा भारतेर अधिकांश स्थानेर मंगल साधन करिबेन। केवल बाँगला ओ इँराजी चर्चाय हइबे ना। भारतेर अधिवासीर संख्यार सहित तुलना करिले बाँगला ओ इँरेजी कय जन लोक बोलिते वा बुझिते पारेन? बाँगलार न्याय ये हिंदिर उन्नति हइतेछे ना इहा देशेर दुर्भाग्येर विषय। हिंदीभाषार सहाय्ये भारतवर्षेर विभिन्न प्रदेशेर मध्ये याँहारा ऐक्य बंधन संस्थापन करिते पारिबेन ताँहाराई प्रकृत भारतबंधु नामे अभिहित हइबार योग्य। सकले चेष्टा करुन, यत्न करुन, यत दिन परेई हउक मनोरथ पुर्ण हइबे।"

प्रसिद्ध विद्वान् और देशभक्त श्रीयुत अरविंद घोष अपने "धर्म"-नामक साप्ताहिक पत्र में कहते हैं—"भाषार भेदे आर बाधा हइबे ना, सकले स्व-स्व मातृ-भाषा रक्षा करियाओ साधारण भाषा रूपे हिंदीभाषा के ग्रहण करिया सेई अंतराय विनष्ट करिब।"

हिंदू ही नहीं, परलोकवासी सैयद अली बिलग्रामी-जैसे मुसलमान विद्वानों ने भी हिंदी को ही राष्ट्रभाषा होने-योग्य बताया है। धर्म्मांधता तथा प्रादेशिक प्रेम के कारण कुछ लोग भले ही हिंदी का विरोध करें; पर सत्य की सदा जय है। आज हो, या कल अथवा परसों, हिंदी ही भारतवर्ष की राष्ट्रभाषा होगी, इसमें संदेह नहीं।

हिंदी समाचार-पत्रों तथा पुस्तकों का प्रचार भी क्रमशः बढ़ रहा है। और विश्वविद्यालयों की बात तो मैं जानता नहीं, पर कलकत्ता-विश्वविद्यालय में तो बी० ए० तक हिंदी की पहुँच हो गई है। आशा है, आगे एम० ए० में भी पहुँच जायगी। ❀

इन बातों के देखने से हिंदी की बाहरी अवस्था तो अच्छी मालूम होती है। अब भीतरी अवस्था जैसी है उसे भी ज़रा देख लेना चाहिए।

भीतरी अवस्था

संतोषजनक नहीं है। भारतेंदु के समय में इसकी जो दशा थी, आजकल भी प्रायः वैसी ही है। इसका कारण हिंदीवालों की उदासीनता, हठ और दुराग्रह है। जिसने जो कुछ एक बार सीख लिया या जान लिया है, वह उससे अधिक सीखने की क़सम खा बैठा है। हिंदीवाले भूल मानना तो जानते ही नहीं। न्याय-अन्याय,

---

❀ पहुँच गई। संपादक

उचित-अनुचित, कुछ जो जिसके मुँह से निकल जाता है, उसी को ठीक साबित करने में वह अपनी सारी पंडिताई ख़र्च कर देता है। हिंदीवाले मिलकर काम करना नहीं जानते। इसी से अपनी-अपनी डफली और अपना-अपना राग अलापा जा रहा है। कोई आत्मा, गीत, बूँद आदि को पुल्लिंग मानता है, तो कोई स्त्रीलिंग। कोई लिखता है "भारतमित्र-संपादक" और कोई "संपादक-भारतमित्र"। कोई विभक्ति को संज्ञा के साथ मिलाकर लिखता है, तो कोई अलग। अरबी-फ़ारसी के शब्दों में कोई बिंदी लगाते हैं, कोई नहीं। मतलब यह कि सब कोई अपनी-अपनी खिचड़ी अलग ही पका रहे हैं। दस वर्ष पहले जो मतभेद था, वही आज भी है। समय-समय पर खंडन-मंडन भी हो जाता है; पर निश्चय कुछ नहीं होता। वही "ढाक के तीन पात" रह जाते हैं। इस मतभेद को दूर करना बहुत आवश्यक है। साहित्य में हठ तथा दुराग्रह को स्थान देना ठीक नहीं। हठ, दुराग्रह और ईर्षा-द्वेष को छोड़कर हमें हिंदी के अभाव एवं त्रुटियों को दूर करना चाहिए, और उसकी उन्नति के लिये सदा प्रस्तुत रहना चाहिए।

गद्य

गद्य की दशा साधारणतः अच्छी है; पर जैसी होनी चाहिए, वैसी नहीं। जितने लिखने वाले हैं, सब अपना-अपना सिक्का अलग जमा रहे हैं। कोई किसी की सुनता नहीं; खूब खैंचातानी हो रही है। सुलेखकों की संख्या अभी उँगलियों पर गिनने लायक है। इसका कारण हिंदी-शिक्षा का अभाव है। जबतक यह अभाव दूर न किया जायगा, हिंदी की यही हीन दशा रहेगी।

व्याकरण

हिंदी में आजकल व्याकरण की मिट्टी पलीद हो रही है। लोग हिंदी लिखते समय व्याकरण को ताक पर रख देते हैं। जिन लोगों का यह कथन है कि हिंदी में व्याकरण का अभी अभाव है, वे भूलते हैं। हिंदी में व्याकरण का अभाव न था, और न है। अभाव सीखने और समझनेवालों का है। हाँ, यह बात ज़रूर है, कि व्याकरण की कोई सुंदर पुस्तक नहीं है। जो दो-चार छोटी-मोटी आँसू पोछने के लिये हैं भी, उनकी कोई परवा नहीं करता। यदि पर्वा होती, तो लावण्यता, सौंदर्य्यता, बाहुल्यता, ऐक्यता, एकत्रित, ग्रसित, क्रोधित आदि शब्दों की सृष्टि न हो पाती।

हिंदी के लेखकों में एकता नहीं है। वर्णविन्यास और पद-योजना इसके प्रमाण हैं। कोई लिखता है "सकता", और कोई "सक्ता", याने क और त को मिलाकर। "सकना" धातु से "सकता" बनता है। धातु-रूप में तो क और त संयुक्त नहीं हैं। फिर "सकता" में क और त का संयोग क्यों हो जाता है? इसी तरह रखा, रक्खा, करें, करैं, लिखें, लिखैं आदि का झगड़ा चलता है। मैं नहीं जानता कि इस व्यर्थ के बखेड़े से क्या लाभ सोचा गया है? अगर यह कहा जाय कि उच्चारण के अनुसार ही लिखना चाहिए, तो मैंने आज तक किसी को करैं, लिखैं, इस तरह मुँह बिगाड़ कर बोलते नहीं सुना है। जो हो, इन छोटे-मोटे झगड़ों का तय हो जाना ही उचित है।

कोष

उल्लेख करने-योग्य अभी हिंदी में एक भी कोष नहीं है। इसके बिना बड़ा हर्ज हो रहा है। काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा के

कोष को चर्चा बहुत दिनों से सुनी जा रही है। देखें, वह कब तक प्रकाशित होता है। ❀

नाटक

भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र के नाटकों के बाद फिर कोई उत्तम नाटक देखने में नहीं आया। नाटक साहित्य का एक अंग है। इसकी तरफ़ इतनी उदासीनता न होनी चाहिए।

उपन्यास

इसका बाज़ार तो ख़ूब ही गरम है। इनकी संख्या नित्य बढ़ती चली जाती है; पर अफ़सोस यही है कि दो-चार-दस को छोड़कर बाक़ी सब निकम्मे हैं। अपने दिमाग़ से निकालनेवाले कम, पर अन्य भाषाओं से उल्था करनेवाले अधिक हैं। उपन्यासों से हिंदी पढ़नेवालों की संख्या बहुत बढ़ी है, और बढ़ती जा रही है। फिर भी गंदे तथा अश्लील उपन्यासों के रोकने का प्रबंध होना चाहिए।

शिल्पकलादि

शिल्पकला, विज्ञान, राजनीति, कृषि तथा इतिहास-संबंधी पुस्तकों का पूरा अभाव है। इस ओर अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है। श्रीयुत महेशचरणसिंह ने 'हिंदी रसायन' नाम की पुस्तक लिखी है। वह अपने ढँग की पहली पोथी है। धन्यवाद है पंडित गौरीशंकर ओझा और मुंशी देवीप्रसादजी को, जिन्होंने हिंदी में ऐतिहासिक ग्रंथ लिखने का लग्गा लगा दिया है। क्या और कोई माई के लाल अन्य विषयों की तरफ़ ध्यान न देंगे ?

❀ इसके अधिकांश खंड अब निकल गए हैं।—संपादक

समाचार-पत्र

समाचार-पत्रों की संख्या अवश्य बढ़ गई है, और प्रतिदिन बढ़ रही है; परंतु उनकी भीतरी अवस्था अच्छी नहीं है। दो-चार के सिवा सभी लष्टम-पष्टम चल रहे हैं। दैनिक पत्र अब एक भी नहीं है। मासिक पत्रिकाओं में "सरस्वती" और "मर्यादा" ही विशेष उल्लेख के योग्य हैं। पत्रों के अच्छे या बुरे होने के कारण उनके संपादक हैं। जैसा संपादक होगा, उसका पत्र भी वैसा ही होगा। परंतु दुःख है, हिंदी पत्रों के अध्यक्ष और संचालक प्रायः आँखें मूँदकर संपादक नियुक्त करते हैं। संपादक की योग्यता तथा संपादक का पद कैसा दायित्वपूर्ण है, इसका तनिक भी विचार नहीं किया जाता। इसी हेतु संपादक प्रायः ऐसे लोग हो जाते हैं, जो अँगरेज़ी तो क्या, हिंदी भी अच्छी तरह नहीं जानते। ऐसे संपादकों को भला कब अपने कर्तव्य का ज्ञान रह सकता है? वे आपस में लड़ने और गालियाँ देने में ही अपने कर्तव्य की इतिश्री कर डालते हैं। व्यर्थ के झगड़े और कलह करने में ही वे अपनी प्रशंसा समझते हैं। भाषा का वे कैसा सपिंड श्राद्ध करते हैं, यह सब साहित्य-सेवी जानते हैं। ऐसी दशा में पत्रों की उन्नति कब संभव है? तारीख़ २९ जून, सन् १९११, के "अभ्युदय" में "विचारणीय विषय"-शीर्षक लेख के उत्तर में "हिंदी-हितैषी" के नाम से मेरा एक निबंध निकला था। उसमें मैंने लिखा था—"मेरी राय है कि अभी एक ऐसी समिति बना ली जाय, जिसके सभासद हिंदी के दो-चार मर्मज्ञ विद्वान हों। इसका काम वर्ष में एक या दो-दो बार हिंदी-परीक्षार्थियों की परीक्षा लेकर प्रसंशापत्र देना हो। जिसके पास इस समिति का प्रशंसापत्र हो, वही हिंदी

का वास्तविक विद्वान् और लेखक समझा जाय। इन्हीं परीक्षोत्तीर्ण लोगों में से पत्र-संपादक भी नियत हुआ करें।" ऐसा हो जाने से हिंदी की लिखावट में जो गड़बड़झाला आजकल दिखलाई देता है वह दूर हो जायगा और हिंदीभाषानभिज्ञ संपादकों की संख्या भी क्रमशः न्यून होती जायगी। आशा है, सम्मेलन इसका प्रबंध करेगा।

पद्य

पद्य की दशा पहले जैसी अच्छी थी, आजकल वैसी ही शोचनीय है। वह 'दो मुल्लों में मुर्गी हराम' की कहावत को चरितार्थ कर रहा है। कोई तो इसे वर्तमान हिंदी याने खड़ी बोली की तरफ़ खींचता है, और कोई पड़ी बोली अर्थात् ब्रजभाषा की तरफ़। इस खींचातानी में पद्यभाग जहाँ-का-तहाँ खड़ा रह गया—कुछ उन्नति न कर सका।

ब्रजभाषा के कवि वही पुरानी लकीर पीट रहे हैं। इससे उनकी कविताओं में कुछ नया आनंद नहीं मिलता। यदि वे लोग समस्या-पूर्ति, नायिकाभेदादि छोड़कर प्रचलित विषयों पर नवीन रुचि के अनुसार कविता करें, तो हिंदी-साहित्य का विशेष उपकार हो, और उनका भी आदर-मान हो।

खड़ी बोली वाले भी बेतहाशा सरपट दौड़ रहे हैं। वे तुकबंदी को ही कविता समझते हैं। खड़ी बोली के कवि तो आजकल बहुत बन गए हैं; पर यथार्थ में कवि कहलानेवाले बहुत थोड़े हैं। केवल तुकबंदी का नाम कविता नहीं है, और न अच्छे शब्दों को एकत्र कर देना ही कविता है। कविता एक स्वर्गीय पदार्थ है। जिस कविता से हृदय की कली विकसित न हो उठे, और चित्त तन्मय

न हो जाय, वह कविता कविता ही नहीं। भूषण के कवित्तों को सुनकर छत्रपति शिवाजी महाराज की नस-नस में उत्साह और वीरता की बिजली दौड़ गयी थी। बिहारी के एक ही दोहे को पढ़कर जयपुर-नरेश जयसिंह मंत्र-मुग्धवत् अंतःपुर से दरबार में दौड़े चले आए थे। क्या आजकल भी मन को मोहनेवाली ऐसी कविताएँ होती हैं? भावशून्य कविता किसी काम की नहीं। भाव ही कविता का प्राण है; परंतु हिंदी में अब अधिकांश कविताएँ भावशून्य ही होती हैं।

कुछ लोग बेतुकी के प्रेमी हो गए हैं। उनका कहना है कि तुक मिलाने में बड़ी झंझट है। इसके फेर में पड़कर कविगण भाव को भूल जाते हैं। पर मैं यह स्वीकार करने के लिए अभी प्रस्तुत नहीं। जो स्वाभाविक वा यथार्थ कवि हैं, वे सदा भावमय रहते हैं। तुक मिलाने की चिंता उनकी भावराशि में बाधा नहीं डाल सकती। यदि यह बात होती तो भूषण, बिहारी, सूर, तुलसी आदि प्राचीन कवियों से लेकर भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र, पं० प्रतापनारायण मिश्र, उपाध्याय पं० बदरीनारायण चौधरी और पं० श्रीधर पाठक तक की कविताएँ आदर की दृष्टि से न देखी जातीं, क्योंकि इन सब ने मित्राक्षर छंदों में रचना की है। खैर, मैं अमित्राक्षर छंद के अनुरागियों को रोकता नहीं। वे मज़े में बेतुकी कविता करें; पर कृपा कर पुराने छंदों की व्यर्थ निंदा न करें।

खड़ी बोली का भी मैं विरोधी नहीं; पर साथ ही प्यारी ब्रज-भाषा को बहिष्कृत करने के पक्ष में भी नहीं। पंडित केदारनाथ भट्ट के कथनानुसार जिस बोली में भगवान् श्रीकृष्णचंद्र ने तुतला-

कर यशोदा से "मैया मोहि दाऊ बहुत खिजायो" कहा था, उसे पद्य-रचना के समय तिरस्कृत करना कदापि उचित नहीं है। ब्रज-भाषा में जो रस—जो लालित्य—जो सौंदर्य—जो माधुर्य है, वह खड़ी बोली को अभी तक प्राप्त करने का सौभाग्य नहीं हुआ है।

कहने के लिये अभी बहुत सी बातें हैं, पर समयाभाव के कारण यहीं समाप्त करता हूँ। आशा है, हिंदी की वर्तमान अवस्था का कुछ थोड़ा-सा ज्ञान इससे हो जायगा। हिंदी में जो कुछ अभाव या त्रुटियाँ हैं, उन्हें दूर करना हमारा कर्तव्य है। जब और प्रांतवाले हिंदी को ग्रहण करने के निमित्त प्रस्तुत हो रहे हैं, तो हमें चुपचाप नहीं बैठना चाहिए। भारतेंदुजी के सुर में सुर मिलाकर मैं भी यही कहता हूँ—

"विविध कला शिक्षा अमित, ज्ञान अनेक प्रकार;
सब देशन सों लै करहु, भाषा माहिं प्रचार।
प्रचलित करहु जहान में, निज भाषा करि यत्न;
राज काज दरबार में, फैलावहु यह रत्न।"

———

अनुप्रास का अन्वेषण ❀

वर्षों व्यतीत हुए, मेरे आदरणीय अध्यापक श्रीयुत ललित-कुमार वंद्योपाध्याय, विद्यारत्न, एम० ए० महाशय ने कलकत्ता-कॉलेज स्कायर के युनिवर्सिटी-इन्स्टीट्यूट में संध्या-समय सभापति के स्थान पर सर गुरुदास बनर्जी को बिठा "अनुप्रासेर अट्टहास"-शीर्षक बँगला प्रबंध का पाठ किया था, जिस में उन्होंने बंगभाषा में व्यवहृत, प्रयुक्त और प्रचलित संस्कृत, अँगरेज़ी, उर्दू, हिंदी और बँगला-शब्द, महावरे और कहावतें उद्धृत कर अनुप्रास का अधिकार बँगला भाषा पर दिखाया था। प्रबंध के पढ़े जाने पर "बँगला बंगवासी" के संपादक बाबू बिहारीलाल सरकार बोले—"बांगलाई कोबीतार भाषा। कारोन एते ओनेक ओनुप्रास आछे। ओतो अनुप्रास आर कोनो भाषाते नाईं। ओनुप्रास कोबीतार ऐकटी गून।" अर्थात्, 'बँगला ही कविता की भाषा है; क्योंकि इसमें जितना अनुप्रास है, उतना और किसी भाषा में नहीं। अनुप्रास कविता का एक गुण है।'

मुझे बूढ़े बिहारी बाबू की यह बात बहुत बुरी लगी; क्योंकि भारत के भाल की बिंदी इस हिंदी को ही मैं कविता की भाषा जानता क्या था, अबतक जानता और मानता हूँ। मैंने, सोचा, क्या हिंदी-भाषा में अनुप्रास का अभाव है? यदि नहीं, तो बँगला ही क्यों कविता की भाषा घोषित की जायगी? यह सोच-विचार

❀ षष्ठ हिंदी-साहित्य-सम्मेलन में पठित।

मैंने हिंदी में अनुप्रास का अन्वेषण आरंभ कर दिया। इस अनुसंधान में जो कुछ अपूर्व आविष्कार हुआ, उसी को आज आप लोगों के आगे अर्पित करता हूँ।

संस्कृत-साहित्य में अनुप्रास का अनुसंधान अनावश्यक जानो; क्योंकि एक तो वह भारत की प्रायः सभी भाषाओं की जननी है, उस पर सब की समान श्रद्धा है। दूसरे, उसके स्तोत्र तक जब अनुप्रास से अधिकृत हैं, तब काव्यों की कथा ही क्या है? निदर्शन के लिये निम्नलिखित स्तव ही पर्याप्त होगा—

"गांगं वारि मनोहारि मुरारिचरणच्युतम्;
त्रिपुरारि शिरश्चारि पापहारि पुनातु माम्।"

"पापापहारि दुरितारि तरंग धारि,
शैलप्रचारि गिरिराजगुहाविदारि;
झंकारकारि हरिपादरजोपहारि,
गांगं पुनातु सततं शुभकारिवारि।"

एक और सुनिए—

"नमस्तेऽस्तु गंगे त्वदंगप्रसंगात्,
भुजंगास्तुरंगा कुरंगाः प्लवंगाः;
अनंगारि रंगाः ससंगाः शिवांगा,
भुजंगाधिपांगी कृतांगा भवंति।"

हिंदी-साहित्य में भी मैंने पद्य की ओर प्रस्थान नहीं किया; क्योंकि मैं जानता हूँ कि वहाँ अनुप्रास का अड्डा अद्भुत रूप से जमा हुआ है। यथा—

चंपक चमेलिन सों चमनि चमत्कार,
चमू चंचरीक के चितौत चोरे चित हैं;

चाँदी को चबूतरा चहूँवा चमचम करे,
चंदन सों गिरधरदास चरचित हैं;
चारु चांद-तारे को चँदोवा चारु चाँदनीसो,
चामी कर चोवन पै चंचला चकित है,
चुन्निन की चौकी चढ़ी चंद्रमुखी चूड़ामनि,
चाहन सों चैत करें चैन के चरित हैं।

अन्य भाषा-भाषी अपनी-अपनी भाषा के दो-चार शब्दों में अनुप्रास आता अवलोकन कर आनंदित और गद्गद हो जाते हैं। पर यहाँ तो चारों चरणों में चकार की भरमार है! अफ़-सोस है, तो भी हम हिंदी की हिमायत न कर उर्दू-अँगरेज़ी का ही आल्हा अलापते हैं। ख़ैर।

इसलिये मैंने पद्य परित्याग कर गद्य की ओर ही गमन किया, और वहाँ राजा-रईस, राजा-रंक, राव-उमराव, सेठ-साहूकार, कवि-कोविद, ज्ञानी-ध्यानी, योगी-यती, साधु-सन्यासी से लेकर नौकर-चाकर, तेली-तमोली, बनियाँ-बक्काल, कहार-कलवार, मेहतर-चमार, कोरी-किसान और लुच्चे-लफंगे तक की बातचीत, गपशप, बात-विचार, रहनसहन, खानपान, रफतार-गुफ़तार, चालचलन, चालढाल, मेलमुलाकात, रंगरूप, आकृति-प्रकृति, जानपहचान, हेलमेल, प्रेमप्रीति, भावभाव, जातपाँत, रीतरस्म, रस्मरवाज़, रीतनीत, पहनावे-ओढ़ावे, डीलडौल, ठाटबाट, बोलचाल, संगसाथ, संगत-सोहबत में अनुप्रास का अमल दख़ल पाया। मैंने अपनी ओर से न कुछ घटाया-बढ़ाया, न काटा-छाँटा और न चुस्त-दुरुस्त ही किया। शब्दों को जिस सूरत-शकल में जहाँ पाया, वहाँ से वैसे ही उठाकर ठौरठिकाने से मौकामहल देख रख भर दिया है।

अन्वेषण के पहले अनुप्रास का नामधाम; आकार-प्रकार; रंगढंग और नामोनिशान जान लेना ज़रूरी है। अँगरेज़ी के Alliteration & Assonance, उर्दू-फ़ारसी का काफ़िया-रदीफ़ और संस्कृत-हिंदी का अनुप्रास नाम में दो होने पर भी काम में एक ही हैं।

स्वर के विना व्यंजन-वर्णों के साम्य को अनुप्रास कहते हैं, याने वाक्य और वाक्यांश में वारंवार एक ही प्रकार के व्यंजन वर्णों के आने को अनुप्रास कहते हैं। इसके अनेक रूपरूपांतर हैं, पर प्रधान पाँच ही हैं। जैसे—

(१) छेकानुप्रास—भोजन विना भजन।
(२) वृत्यनुप्रास—हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति का सुंदर सिंहासन।
(३) श्रुत्यनुप्रास—खेल-कूद, जंगल-झाड़ी।
(४) अन्त्यानुप्रास—अत्र तत्र सर्वत्र है, भारतमित्र सुपत्र।
(५) लाटानुप्रास—शिक्षिता अबला अबला नहीं है।

अच्छा अब असली हाल सुनिए। अनुसंधान के अर्थ कमर कसते ही मुझे अपने इर्दगिर्द, अगलबगल, अड़ोसपड़ोस, टोले-मुहल्ले, घरबाहर, भीतरबाहर, आसपास, इधरउधर, नातेरिश्ते, बंधु-बांधव, भाईबंद, भाईभतीजे, कुटुमकबीला, पुत्रकलत्र, बालबच्चे, लड़केबाले, जोरूजाँते, चूल्हेचक्की, घरबार, अपनेबेगाने, मानभानेज, भाईबिरादरी, खानदान, परिवार, तमाम अनुप्रास-ही-अनुप्रास नज़र आने लगा। इसका अनुमान नहीं, प्रत्यक्ष प्रमाण लीजिए। मेरा नाम जगन्नाथप्रसाद, स्टेशन जमुई, ससुर जहाँगीरपुर-निवासी जौन-माने जसवंतरायजी के जेठे बेटे जयंतीप्रसादजी, मामा जयकृष्ण-

लालजी और लड़का यदुनंदन है । मेरा आदि-निवास मथुरा, मध्य मिरजापुर और वर्तमान मलयपुर, जिला मुंगेर, प्रवास मुक्ता-रामबाबू स्ट्रीट (कलकत्ता) अल्लमई मिश्र, हिस्सेदार मिरजामल-जी, और चाचा मुरारीलाल तथा मथुराप्रसाद महोदय हैं । उपाधि चौबे-चतुर्वेदी, काम चपड़े का और उमर चालीस की है । गोत्र सौश्रव है । क़िस्साकोता परिजन, पुरजन, अरिजन, स्वजन, सबकी मोह-ममता और माया-मोह छोड़, मुँह मोड़ सजधज और बनठन कर अनुप्रास की तलाश में निकल पड़ा ।

वाणिज्य-व्यापार

चूँकि अपना धर्म-कर्म वाणिज्य-व्यापार से चलता है, नौकरी-चाकरी से कुछ लेनादेना नहीं । बस, जवानी-दीवानी के फंदे में फँस मनमानी घरजानी करता पहले बंगाल-बंक की बड़ाबाजार-ब्राँच में जा पहुँचा, तो क्या देखता हूँ कि रोकड़-ज़ाकड़, हिसाब-किताब, खाते-पत्तर, उचंतखाते, खर्चखाते, खैरातखाते, खुदरा खर्चखाते, बट्टेखाते, व्याजबट्टे, लेनदेन, नकराई-सकराई, मिती के भुगतान, खोखे, पैठ-परपैठ, देनेपावने, नाम-जमा, लेवाल-देवाल, लेवाल-बेचवाल, साझे-शराकत, सौदासुल्फ़, तारवार, लेने-बेचने, खरीद-बिक्री, खरीद-फ़रोख़्त, बेचनेखोचने, मोल लेने, क्रय-विक्रय, मालटाल, मालजाल, मालमता, बिलटी-बीजक, बाकीबकाए, मत्थेपोते, ज़मीन-जायदाद, धनदौलत, धनधान्य अंनधन, सौ के सवाए, नफेमुनाफे, नफेनुकसान, आमदनी-रफ्तनी, आगत-निर्गत, लँकधोक, दरदाम, मोलतोल, बोहनीबट्टे, बाजारदर, देनदार, दूकानदार, सराफ़, बजाज, मुनीम गुमाश्ते और बसने के ब्राह्मणों की कौन कहे, दिवाले निकालने, टाट उलटने, बम बोलने, आफ़ीशियल असायनी

और इनसालवेंट अदालत तक में अनुप्रास का आसन जमा है। केवल यहीं नहीं—दल्लाल, नमूने, कामकाज, कारबार, कारव्योहार, कामधंधे, खुशी के सौदे, कल-कारखाने, कल के कुली, जहाज की जेटी और बट्टे चट्टे में भी आप आ बैठे हैं।

बाजार बढ़े, चढ़े या घटे, गिरे या उठे, तेज हो या मंदा, सुस्त या समान रहे, मारवाड़ी महाजन हो चाहे बंगाली व्यापारी, ब्योहरे बनिये हों, चाहे ब्राह्मण, सभी अनुप्रास के चक्कर में हैं। उत्तमर्ण-अधमर्ण में, स्वदेशी शिल्प में, सूची शिल्प में, श्रमशिल्प में, शिल्पसभा में, श्रमजीवी समवाय में, कृषि-शिल्प-प्रदर्शिनी में, वैश्य-वृत्ति में, व्यवसायात्मिका बुद्धि में, विज्ञान-वाणिज्य में, अर्थशास्त्र में, कलाकौशल में, "व्यापारे वसते लक्ष्मी" या "लक्ष्मीर्वसति वाणिज्ये" इस मूलमंत्र में भो अनुप्रास आ गया है। अमानत में खयानत करो, धन गबन करो, बचत बचाकर 'नौ नकद न तेरह उधार' करो, कच्चे चिट्ठे को पक्का समझो या सफ़ेद को स्याह करो, बंक से बंधक का बंदोबस्त कर व्याज बढ़ाओ, जूट-पाट का फाटका या सट्टा करो; पर अनुप्रास का अदर्शन न होगा।

हमारे लाख के लेनेवाले रेलीब्रदर्स, अर्नथौजन, बेकरग्रे, टॉमसनलेजन और लालमारसलपर, तथा बेचनेवाले मिरजापुरी महाजन गरीब-फ़कीर, बंधु-बुझावन, मंगन-झंगन, शिवचरनसहाई, झब्बूलाल, चुन्नीलाल, लूनावत और रामस्वरूपराम रामसकलराम पर भी अनुप्रास का अनुग्रह है। यह दूकानदारी या बनावटी बात नहीं, सच्चा सौदा है।

अग्रसर हुआ, तो कलकत्ते के बड़े बाजार में, दिल्ली के चाँदनी चौक में, बनारस के ठठेरी बाजार में, आगरे के किनारी बाजार में, मिरजापुर के घूंघीकटरे में, कानपुर के कलकटरगंज में, जयपुर के जौहरीबाजार में, प्रयाग के जानसेनगंज में, मुंगेर के वेलनबाजार में, भागलपुर के नाथनगर, सूजागंज में, मैनपुरी के मदार दरवाजे में, पटने के खुचकल्ले में, बंबई के कालवादेवी में भी अनुप्रास को अकड़ते पाया। अस्तु।

साहित्य

अर्जन उपार्जन के उपरांत साहित्य-सेवा है। संस्कृत-साहित्य की कौन कहे, राष्ट्रभाषा हिंदी के साहित्य-संसार में भी अनुप्रास की आँधी आ गई है। दिव्य दृष्टि से नहीं, चर्म-चक्षुओं से ही चश्मा लगा आप देखेंगे कि कविकुलकुमुदकलाधर, काव्य-कानन-केसरी और कविता-कुंजकोकिल कालिदास भी काव्य-कल्पना में अनुप्रास का आवाहन करते हैं। कहीं-कहीं तो कष्ट-कल्पना से काव्य का कलेवर कलुषित हो जाता है। यह कपोल-कल्पना नहीं, कवि-कोविदों का कहना है। ख़ैर वंशीवट, यमुना-निकट, मोर-मुकुट, पीत पट, कालिंदीकूल, राधामाधव, व्रज-वनिता, ललिता, विधुवदनी, कुँवर कन्हैया, नंद-यशोदा, वसुदेव-देवकी, वृंदावन, गिरिगोवर्द्धन, ग्वाल-बाल, गो-गोप-गोपी, ताल-तमाल, रसाल-साल, लवंग-लता, विपिन विहारी, नंदनंदन, विरह-व्यथा, वियोगव्यथा, संयोग-वियोग, मधुर मिलन, मदन-महोत्सव और मलयानिल ही नहीं, झिल्लियों की झनकार, वीर बादर, घनगर्जन-वर्षण, दामिनी की दमक, चपला की चमक, बादर की गरज, शीतल-सुगंध-मंद मारुत, कुसुमकलिका, मदन-

मंजरी, वीरबहूटी, चोआ-चंदन, अतर-अरगजा, तेल-फुलेल, मेंहदी-महावर, सोलह शृंगार, मृगमद, राहुरद, कुमुद कमलकल्हार, स्थलकमल, सरसिज, सरोरुह, पद्मपत्र, एला-लता, लज्जावती लता, छुईमुई की पत्ती, कोयल की कुहक, कूजित कुंजकुटीर, शशि, वसंती-वायु, मलय-मारुत, मधुमास, युवक-युवती, नवयौवन, षोड़शी, स्मर-शर, पवित्र प्रेम, प्रेम-पाश, प्रेम-पिपासा, यामिनी-यापन, रमणी-रत्न, सुखसागर, रससागर, दुःख-दावानल, अंध अनुराग, मुग्धा-मध्या, प्रोषितपतिका, वासकसज्जा, अधवा-विधवा-सधवा, चित-चोर, मनमोहन, मदनमोहन, दिलदार यार, प्राणनाथ, प्राणप्रिय, पीन पयोधर, प्रेमपत्र, प्रेम-पताका, प्राणदान, सुखस्वप्न, आलिंगन-चुंबन, चूमाचाटी, पादपद्म, कृत्रिम कोप, भ्रूभंग, भृकुटी-भंगी, मानमर्दन और मानभंजन भी अनुप्रास के अधीन हैं।

कंबुग्रीव, बाहुवल्ली, करकमल, पद्मपलाशलोचन, कुचकमल, कुचकलश, कुच-कुंभ, निविड़नितंब, पदपल्लव, गजगमन, हरिण-नयन, केसरिकटि, गोल कपोल, गुलाबी गाल, कोमल कर, दाड़िमदसन, और साफ़-सुथरी गोरी नारी की मधुर मुसकान में जैसे अनुप्रास का वास है, वैसे ही कालीकलूटी, मैलीकुचैली, नाटीमोटी, खोटीछोटी, कर्कशा, कलहकारिणी कुलटा के बिखरे बालों में भी है। तात्पर्य यह कि प्रेम में नेम नहीं, तकल्लुफ में सरासर तकलीफ़ है। प्रेम का पंथ ही पृथक् है। निराला होने पर भी आला है। इसमें सुख-दुःख और जीवन-मरण, दोनों हैं। हँसा सो फँसा। इश्क हकीकी हो या मजाजी, उसमें मार और प्यार, दोनों हैं। भगत के बस में हैं भगवान। आशिक, माशूक़ और प्रेमिकप्रेमिकाओं के हावभाव, नाज़नखरे, चोंचले, ढको-

सले भुक्तभोगी ही जानते हैं। जो दिलजले हैं, उनका दिन भला कहीं क्यों लगने लगा। जो सदा सर्वदा मक्खियाँ मारा करते हैं, उनसे भला क्या होना जाना है। जिसका सनेह सच्चा है, वह लाख आपत-विपत होते भी सहीसलामत मंज़िले-मक़सूद को पहुँच जाता है। उसके लिये विघ्नबाधा, विपद्बाधा कुछ है ही नहीं। यहाँ तक ता अनुप्रास आया। अब आगे राम मालिक है।

व्याकरण के वर्तमान-भूत-भविष्यत में, संज्ञा-सर्वनाम में, विशेष्य-विशेषण में, संधि-समास में, कर्ता-क्रिया-कारक में, कर्ता-कर्म-करण में, उपादान-संप्रदान-अधिकरण में, संबंध-संबोधन में, उद्देश्य-विधेय में, कर्तरि-कर्मणि प्रयोगों में, तत्पुरुष-कर्मधारय, बहुव्रीहि-द्वंद-द्विगु समासों में, विभक्ति-प्रत्यय में, प्रकृति-प्रत्यय में, आसक्ति-आकांक्षा में, सार्थक-निरर्थक शब्दों में, जाति-व्यक्ति और भाववाचक संज्ञाओं में जब अनुप्रास का निवास है, तब सामयिक साहित्य को सामग्री कागज-कलम, कलम-पेंसिल, रूल-पेंसिल, हेंडल-होल्डर, स्याहीसोख, निब-पिन, चाकू-कैंची, एडीटर-कंपोजिटर, प्रिंटर-पबलिशर, संपादक-मुद्रक-प्रकाशक, प्राप्तपत्र, प्रेरितपत्र, संपादकीय स्तंभ, साहित्य-समाचार, तारसमाचार, तड़ित समाचार, तार-तरंग, विविध समाचार, मुफस्सिल समाचार, साहित्य-समालोचना, क्रोड़पत्र, वेल्युपेबल पारसल और प्रेस-सेंसर में भी अवश्य ही है।

भारतमित्र, अभ्युदय, प्रेमपुष्प, बंगवासी, प्रताप, जयाजीप्रताप, सज्जनकीर्तिसुधाकर, वीरभारत, पाटलिपुत्र, बिहारबंधु, मिथिला-मिहिर, सत्यसमाचार, सत्यसनातन, चित्रमयजगत्, सद्धर्मप्रचारक,

अवधवासी, आनंद, वेंकटेश्वर समाचार, दैनिक तथा साप्ताहिक पत्रों में, और सरस्वती, मर्यादा, नवनीत, जासूस, नवजीवन, सारदाविनाद, स्त्रीदर्पण, मनोरंजन, वैष्णव-सर्वस्व, सुधानिधि, चतुर्वेदी-चंद्रिका, महामंडल-मेगजीन, ब्रह्मचारी, ललिता-नामक मासिक पत्रों में अनुप्रास का अंश है।

लेखकों में बाबू बालमुकुन्द वर्मा, गंगाप्रसाद गुप्त, लाला भगवानदीन, ब्रजराज बहादुर बी० ए०, नरेन्द्रनारायण, भास्कर भालेराव, हरिहरसुरूप शास्त्री, तीर्थत्रय सकलनारायण शर्मा, अंबिकाप्रसाद वाजपेयी, वासुदेव, बाबूराव विष्णु पराड़कर, यशोदानंदन अखौरी, रामनारायण चतुर्वेदी, महावीरप्रसाद द्विवेदी, पद्मसिंह शर्मा, विद्यावारिधि (ज्वालाप्रसाद मिश्र), नंदकुमारदेव शर्मा, गिरिजाकुमार घोष, चंद्रधर गुलेरी, कृष्णकांत, मन्नन द्विवेदी गजपुरी, गोपालराम गहमरी, रामजीलाल, लज्जाराम, रुद्रदत्त, गौरीशंकर हीराचंद, राधाचरण, द्वारकाप्रसाद चतुर्वेदी, रामावतार, रामरणविजयसिंह, अयोध्यासिंह उपाध्याय, देवकीनंदन, राय देवीप्रसाद पूर्ण, भारतेंदु हरिश्चंद्र, अंबिकादत्त व्यास, माधव मिश्र, श्रीनिवासदास, सदानंद मिश्र, तोताराम, लल्लूलाल और लेखिकाओं में यशोदा देवी, राजमन्नी देवी, कृष्णकला, कृष्णकुमारी, तोरन देवी 'लली' रामेश्वरी नेहरू, और हेमंतकुमारी चौधरी अनुप्रास के अंतर्गत ही मिलीं।

द्विवेदीजी-कृत 'कालिदास की निरंकुशता', मनसाराम-लिखित 'निरंकुशता-निदर्शन', आत्माराम-रचित 'अनस्थिरता', मौजीराम का 'विचार-वैचित्र्य', शिवशंभु शर्मा के चिट्ठे, मस्तराम के मंतव्य, मनसुखा का मनसुबा; सिदसिदानंद गोलमालकारी, कलकत्ते की

साहित्यसंवर्धिनी सभा, प्रयाग या फ़ीरोज़ाबाद का भारती-भवन, पाठकजी का पद्मकोट, सिंहजी का 'सतसई-संहार', व्यासजी का 'विहारीविहार', प्रतापनारायणजी का 'सांगीत शाकुंतल', श्याम+शुक+गणेश विहारी मिश्रों का 'बंधुविनोद', या 'कविकीर्तन' तथा 'नवरत्न', मैथिलीशरण की 'भारत-भारती', अयोध्यासिंहजी का 'प्रियप्रवास' तथा 'ठेठ हिंदी का ठाठ', अयोध्यानरेश का 'रसकुसुमाकर', जोधपुरी मुरारिदानजी का 'यशवंत यशोभूषण' और मेरा संसार-चक्र' तथा 'विचित्र विचरण' भी अनुप्रास आमेज़ है।

हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति होने के सबब ही माननीय मदनमोहन मालवीय, गोविंदनारायण मिश्र, बदरीनारायण चौधरी, महात्मा मुंशीराम और पंडित श्रीधर पाठक तथा महामंत्री पुरुषोत्तमदास टंडन को भी अनुप्रास ने अछूता न छोड़ा।

अनुप्रास के अत्यंत आग्रह से ही बाबू श्यामसुंदरदास इस बार सभापति के आसन पर आसीन हुए। पं० ठाकुरदत्त शर्मा स्वागतकारिणी समिति के मंत्रिपद को त्याग जड़ीबूटी जमा करने हिमशैल-शिखर पर सिधारे, और पं० राजाराम शास्त्री उक्त पद पर पधारे थे। अनुप्रास के अनुरोध से ही राय रामशरणदास बहादुर ने भी स्वागत कारिणी समिति का अध्यक्ष होना अंगीकार किया, और मनहूस मुहर्रम की तंग तातील तजकर क्रिसमस का सुहावना समय स्थिर हुआ। लोगों को लखनऊ से ही लाहोर चलने की लालसा लगभग साल भर से लगी हुई थी; पर दाना-पानी ने सब पर पानी फेर दिया। अन्नजल बड़ा प्रबल है। पगड़-बाज़ पंजाबियों की परिवर्तन-प्रियता अथवा लहरी लाहोरियों की लबड़धोंधों से हमारे, तुम्हारे, सबके छक्के छूट गए, हक्के बक्के हो

इधर-उधर ताक-झाँक करने लगे। घिग्घी बँध गई, बोल बंद हुए। पर स्थायी समिति स्थिर रही। किंकर्तव्यविमूढ़ न हो उसने सोचा, समझा और अलाहाबाद में ही अधिवेशन का आयोजन कर एक सख्त सवाल या मुफ़ीद मसला हल कर डाला। लिहाजा लाचार हो लाहोर की लंबी मुसाफ़री से मुँह मोड़ अनुप्रास के अनुसंधान में मैं भी पंजाब मेल से पटने होता प्रयाग पहुँच ही गया।

धर्म

साहित्य-सेवा के बाद धर्म-कर्म है। धर्मांध धर्मधुरंधर, धर्मधुरीण, धर्मावतार और सनातनधर्मावलंबी बनकर पोथी-पुराण,श्रुति-स्मृति, शास्त्र-पुराण का पठन-पाठन और श्रवण-मनन निदिध्यासन करो, प्रतिमापूजन-प्रतिपादन, मूर्ति-पूजा-मंडन और श्राद्ध-तर्पण का शंका-समाधान करो; पाखंडी पंडों, पुरोहितों और पंडितों के पैर पूजो, लकीर के फ़कीर बनो, संयमनियम, तीर्थ-व्रत, योग-भोग, जप-तप, याग-यज्ञ, ज्ञान-ध्यान, स्नान-ध्यान, पूजा-पाठ कर कर्मकांडी कहाओ; हव्य-कव्य-गव्य, पंचामृतपंचगव्य, धूपदीप, चंदन, पुष्प, कुमकुम, गंगाजल, तुलसीदल और तांबूल पूंगीफल से परमात्मा का पूजन-अर्चन करो, चाहे आर्यसमाजी हो बालविवाह, विधवा-विवाह, बहुविवाह, वृद्ध-विवाह, बेमेल-विवाह का विरोध कर समाज-संस्कार, समाज-सुधार के साथ नियोग निरूपण करो या खंडन-मंडन, शास्त्रार्थ, संध्या-वंदन, होमहवन कर मांसपार्टी, घासपार्टी पैदा करो, पर अनुप्रास सदा सर्वत्र अनुसरण करता है। केवल यहीं नहीं, प्रवृत्ति-निवृत्ति, स्वर्ग-नरक, पाप-पुण्य, अर्थ-धर्म-काम-मोक्ष, मुक्ति-मोक्ष, लोक-परलोक, यमयातना, साकार-निराकार, निर्गुण-सगुण, काशीकरवट, दान-पुण्य, जन्म-मरण, जन्म-मृत्यु, विषय-

वासना, ब्रह्मविद्या, मुक्तिमार्ग, ज्ञान-नेत्र, आगम-निगम, वेद-उपनिषद्, वेद-वेदांग-वेदांत, ब्रह्मवैवर्त, श्रीमद्भगवद्गीता, शास्त्रसिद्ध-विधि-निषेध और वेदविहित कर्मों में भी अनुप्रास का आदर देखा।

आचार-विचार, नेम-धम, नित्यनैमित्तिक क्रिया-कर्म, ध्यान-धारणा, स्तव-स्तोत्र, यंत्र-मंत्र-तंत्र, ऋद्धि-सिद्धि, शुभ-लाभ, भजन-पूजन, भगवच्चिंतन, प्रायश्चित्त-पुरश्चरण, वृद्धिश्राद्ध, आद्य-श्राद्ध, सपिंडन-श्राद्ध, पितृप्रेतकृत्य, पिंडप्रदान, कपालक्रिया, जलांजलि, तिलांजलि, पितृपक्ष और गोग्रास में भी अनुप्रास का अनुभव किया।

दरस-परस मज्जन-पान करें, सत्संग या साधुसमागम से दुस्पारावार संसार को अनित्य समझें, सांसारिक सुखसंभोग में सारा समय समर्पित कर दें, मारवाड़ी सहायक समिति संस्थापित करें या श्रीविशुद्धानंद सरस्वती विद्यालय बनवावें; पर अनुप्रास से अलग नहीं हो सकते। झुनझुनूवाले का लछमन झूला, रामचंद्र गोइनका का जनाना घाट, सोदपुर की पिंजरापोल, रायबहादुर बदरीदास मुनीम का माणिकतल्लेवाला मंदिर, मिरजापुर की गोवर्द्धन-गोशाला, सहारनपुर का (मेरी) सारदासदन, काँगड़ी का गुरुकुल, हिंदी-हीन हिंदू-विश्वविद्यालय, बाबा ज्ञानानंद का शरीर और निगमागम मंडली, व्याख्यानवाचस्पति महा मंत्री दीनदयालुजी का श्रीभारतधर्म-महामंडल, प्रयाग की सेवासमिति और थूकापंथी भी अनुप्रास के आश्रित ही हैं।

हिंदुओं के परब्रह्म परमात्मा, ब्रह्मा, विष्णु, शिव, वरुण, कुबेर, जय-विजय-नामक दोनों द्वारपाल, सूर्य-चंद्र, ग्रह-नक्षत्र, काली, कमला, शीतला, सरस्वती, महामाया, इंद्राणी, शर्वाणी, रुद्राणी, कल्याणी, देव-दानवों, देवी-देवताओं, नरी-किंनरी-अप्सराओं, गंधर्वों

और भूत-प्रेत-पिशाचों में ही नहीं, मुसलमानों के पाकपरवरदिगार अकबर, हज़रत मुहम्मद, पीर, पैगंबर, पाँच पीर, हसन-हुसैन, मक्के-मदीने, कलाम अल्लाह, जामा मसजिद, मोती मसजिद, मीना मसदिज, रोजा- रमजान, अलहमदुलिल्लाह और शीया-सुन्नी में ईसाइयों के ईसामसीह, बाइबल, मरियम, देवदूत और प्रभात-प्रार्थना में, बौद्धों के बुद्धदेव, शाक्यसिंह, पद्मपाणि, प्रज्ञापारमिता, बौद्धविहार, और दलाईलामा में, सिखों के नानक और गुरु गोविंद में, जैनियों के पार्श्वनाथ पहाड़ मे, आर्यसमाजियों के स्वामी दयानंद सरस्वती और सत्यार्थप्रकाश में, ब्रह्मसमाजियों के राजाराममोहनराय में तथा वैष्णवों के वल्लभाचार्य में भी अनुप्रास है।

कुंभ के मेले पर ओ० आर० आर० से हरद्वार जा हर की पैरी के पुल के पास जगज्जननी जान्हवी के शीतल जल से पाप, ताप, त्रयताप का प्रक्षालन करो, त्रिवेणी के तट पर माघ मेले में मुंडन करा मकर नहाओ, सूर्यग्रहण के समय कुरुक्षेत्र में या मलमास में राज गिर जा स्नान-दान करो, संक्रांति के समय सागरसंगम या गंगासागर का सफ़र करो, कार्तिक की पूर्णिमा पर हरिहरक्षेत्र जाकर गंडकी में गोते लगाओ, बनारस के विश्वनाथजी और बैजनाथजी में बम्-बम् बोलो या काशी के कंकर शिवशंकर समान जानो, कोटकाँगड़े की नयनादेवी के दर्शन करो या 'मन चंगा, तो कठौती में गंगा' के अनुसार शिक्षा-दीक्षा ले घर पर ही अतिथि-अभ्यागतों, साधु-संन्यासियों की सेवा कर मेवा पाओ, चाहे व्यसनी, व्यभिचारी, विहारी, विलासी बाबू बनकर विषय-वासना के वशीभूत हो, बागबगीचे की बारहदरी में चुपचाप संगीसाथियों के साथ मिल-जुल आमोद-प्रमोद, ऐशोइशरत, ऐशोनिशात करो, शराब,

कबाब और माँस-मछलियाँ उड़ाओ, होटलों में बोतलों के बिलों का टोटल दे बंक पर चेक काटो या भाट-भिखारियों, दीन-दुखियों और लूले-लँगड़ों को कानी कौड़ी न दे महफिल में मुजरा सुन रंडीभँडवे और भाँड़-भगतिनों को इनाम-एकराम दे सब स्वाहा कर डालो, या शिखासूत्र परित्याग परमहंस बनो या वल्लभकुलियों को "तन, मन, धन अर्पन" कर समर्पण ले लो; पर अनुप्रास सदा साथ रहेगा।

धर्म की गहन गति मन के अनुकूल न हो, तो समाज-संशोधन की ही ठहरे। पहले समाजशरीर का स्वरूप स्थिर करो—विवाह-बंधन, जातपाँत, छूआछूत, चूल्हेचौके, पंचपरमेश्वर और खानपान का ध्यान छोड़ एकामेक गड्डमगड्ड हो पुरुषोत्तमपुरी की प्रथा प्रचलित करो, दादूदयाल और सुंदरदास की सच्ची सलाह सुन वाममार्ग से मुँह मोड़ो, पतित जातियों को शुद्ध कर पटेल-बिल के प्रचारक हो नया नाता जोड़ो, स्त्रियों को शिक्षा और स्वतंत्रता दे उनके शुभचिंतक बनो या उन्हें निपट निरक्षर और निपढ़ बना परदे के पीछे रख कूपमंडूक बनाओ; पर अनुप्रास पास ही रहेगा।

आश्रम

ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास ये, चार आश्रम हैं। इस कराल कलिकाल में ब्रह्मचर्य की व्याख्या वृथा है। नाम के ब्रह्मचारी बहुत, पर काम के कम हैं। वानप्रस्थ विदा हो चुका है। संन्यास का स्वरूप है, पर शीलस्वभाव नहीं। हाँ, गृहस्थाश्रम का गौरव ग्वालों की कौन कहे, गोस्वामियों तक में हैं। इसलिये अब मैं गृहस्थ के घर में ही घुसकर अनुप्रास की तलाश करता हूँ; क्योंकि धर्म की चर्चा करना लोहे के चने चबाने हैं।

गृहस्थाश्रम

गृहस्थाश्रम में गमन करते ही विवाह—पाणिग्रहण की चिंता चित्त को चंचल करती है। घरनी विना घर नहीं—गृहिणी के विना गृह नहीं। स्वजनों, परिजनों और पुरजनों से नीची नज़र न करो, तो वनी वात विगड़ती है, क्योंकि कारेवारे, कारेकच्चे का संगसाथ ठहरा। शहर, वाज़ार और नगर की ही नहीं, गँवईगाँव और दिहातों की भी यही दशा है। दादा-दादी, माता-पिता, चाचा-चाची, काका-काकी, भाई-भौजाई, भाई-भतीजे, जीजा-जीजी, फूफा-फूफी, नाना-नानी, मामा-मामी, और वहन-वहनोई की वदौलत संवंध—सगार्त—सगाई हो गई। वैदिक लौकिक रीतभाँत होने लगी। गानेबजाने, नाचगान, राग-रंग का वाज़ार गरम हुआ। चहलपहल हुई। सजधज, बाजेगाजे, ठाठबाठ, धूमधाम, धूमधड़क्के, तुमतराक, और शानशौकत से ठस्से के साथ बनरे ने सिर पर सेहरा रख घर से घोड़ी या पीनसपालकी, तामजाम या विहार की खड़खड़िया पर शुभसायत में यात्रा की। अपने वेगाने, अपने पराए वराती बने। खाते, पीते, उठते, वैठते, सोते, जागते, पैदल चलते ठीकठिकाने पहुँचे। यह उस समय की वात है, जब रेल का जाल नहीं फैला था। अव तो स्टेशन जा, टिकट कटा, माल तुला, महसूल दे-दिवा पलाटफ़ौर्म पर टहलने लगे। पहले से डब्बे रिज़र्व करा लो, तो कोई झंझट नहीं। सिगनेल ने सिर झुकाया। गाड़ी आई। चढ़ वैठे, नहीं तो भीड़भाड़ में धक्कमधक्के, ठेलमठेले, ठाँयठाँय, चखचख, ले-ले, दे-दे, तू-तू, मैं-मैं, हाय-हाय ही नहीं, लप्पड़-थप्पड़, धौलधप्पे, चपत-तमाचे, चाँटे-चटकने, चनकटे-मुक्के, लात-जूते, जूतीपैज़ार, मारपीट तक की नौवत पहुँच जाती है। पर तोभी गाड़ी में गुज़र नहीं। घंटी वजते

सीटी हुई, और गाड़ी यह गई, वह गई। कुलियों की कामना पूरी करने में कोताही की, और हुज्जत हुई। इससे स्टेशनमास्टर से ले मेहतर तक का मुँह मीठा करना मुसाफिरों के लिये मुफ़ीद है। तीसरे दर्जे के मुसाफिरों से ही रेलवेवालों का रोजी-रुजगार, रोजी-रोटी चलती है, और घर भरता है; पर तोभी उनके सुख-दुःख का पूछने-वाला कोई नहीं, और न कोई उनकी खोज-खबर ही लेता है। सच-मुच उनका धनी-धोरी कोई नहीं है। गरमी के मौसम में पथिक पिपासा से पीड़ित हो पुकारते-पुकारते पसीने-पसीने हो जाते हैं; पर पानीपाँड़ेजी (चाहे वह कोरी-कलवार ही क्यों न हों) टस-से-मस नहीं होते। कृपा कर आए भी, तो डोल, बालटी, लोटा ख़ाली दिखा रफ़ूचक्कर हो जाते हैं। मुसलमानों के सक्के या बिहिश्ती सुराही-गिलास लिए पहले गोरे गार्ड-ड्राइवरों के ढिग जाते। पीछे मकरूह मुसाफिरों का मुआइना करते हैं। यही नहीं, गाड़ियाँ लड़ गईं या आपस में उनकी टक्कर हो गई तो जान की जोखिम है। प्राण-पखेरू के उड़ने में विलम्ब नहीं होता।

अच्छा, अब आगे का हाल-अहवाल सुनिए। बरात के डेरा डालते ही बेटी के बाप पर बेभाव पड़ने लगती हैं। वह बेचारा बराती-घराती, आए-गए, पई-पाहुने, न्योतहारी-व्योहारी, दोस्त-आशना, गुरु-पुरोहित, सगे-संबंधी के आवभाव, आदरसत्कार, खिलाने-पिलाने-सुलाने के प्रबंध में ही पग जाता है। गरजने-चिल्लाने, बकने-भूकने, समझाने-बुझाने और गुलगपाड़े से तबीयत हैरान-परेशान रहती है। सुबह-शाम, साँझ-सबेरे जब देखो, तब वही बात। अकेले की आफ़त है। जो धन-जन से भरा-पूरा है, उसकी कुछ मत पूछो। भागवान का हल भूत जोतता है। ग़रीबों को

भगवान का ही भरोसा है। उनका बेड़ा वही पार करता है। इसलिये हिम्मत हारने या मन मारने की ज़रूरत नहीं। पर औरतें गीत गाने, गाली गाने, सीठने सुनाने, सिंगार-पटार करने और चोटी-पाटी, मेंहदी-महावर, मिस्सी-सुरमे में ही मस्त रहती हैं। उन्हें फ़ालतू बातों से क्या मतलब? ख़ैर, शुभ समय में कन्यादान हुआ। मातृकापूजन, शाखोच्चार, सप्तपदी, पाद-प्रक्षालन, मधुपर्क, सिंदूरदान आदि शास्त्रोक्त रीतियाँ यथासमय की गईं।

माँगरमड़वे, तेलताई, कुँवरकलेवे, बत्तीमिलाई, गूँथखुलाई, पत्तल-बदलौअल, टीकापटा, पाँवपखरावनी आदि स्त्रियाचारों में कुछ कोरकसर या ग़लती-भूल नहीं रही, यहाँ तक कि गोबरगणेश की पूजा भी पहले ही विधिवत् कर दी गई थी। वर-वधू को बधाइयाँ और मुबारकबाद मिला। दोनों ओर वारे-न्यारे हुए। ख़र्चवर्च हैसियत के हिसाब से करना ही होशियारों का वसूल है। नहीं तो व्याह बाद पत्तर भारी हो जाती है।

इसके बाद जेमाजूठी, ज्योनार-भोज, भोजन-छाजन की बारी आई। आहारेव्यौहारे लज्जा न कारे। लाचार निर्लज्ज हो न्योता खाने लोग चले आए। पहले पानीपत्तर, जलपत्तल परोसने की पुरानी प्रथा है। अब साथ में लोटा-गिलास लाने की चाल चल बसी है। इसलिये किसारों, सकोरों और पुरवों का प्रबंध हो जाता है। कच्ची-पक्की निखरे-सखरे, आमिष-निरामिष का विचार बेहद बढ़ गया है। 'घृतपक्कम् पयोपक्कम्' के भी प्रेमी हैं। पर कान्यकुब्जों की कहानी अकथ है। वे तीन जने इकट्ठे हो तेरह चूल्हे चाहते हैं। बेटी-रोटी-व्योहार का वहाँ बड़ा बखेड़ा है। पर हम चौबे-चतुर्वेदियों की चाल निराली है। इनकी मथुरा ही न्यारी है। यहाँ भेदभाव

नहीं। सब साथ खाने-पीने वाले हैं । हाँ, लकीर के फ़कीर ज़रूर हैं। लीक लगाए विना इनका काम नहीं चलता। यथास्थान सबके आसीन हो जाने पर परोसनेवालों ने पाक-प्रणाली के अनुसार परिवेषण प्रारंभ किया। मैं भी साग-सब्जी और साग-तरकारी से ही शुरू करता हूँ। लीजिए—

रसीला-मठीला आलू, आलू-परवल-पालक, कोंहड़ा-कदुआ करैला-केला-करमकल्ला-कचू, तुरई-मुरई, मूली-मटर, पपीता, राम-तरोई, नेनवाँ, गोबी-गाजर-अरवी, करैले की कलौंजी, कचनार की कलियों का रायता, आलू और आम का अचार, अचार-चटनी, चटपटी चटनी, आम-आमले का मुरब्बा, जलजीरा, कानकुब्जों की कढ़ी, करायल, पपची-पान।

कच्ची

चावल-दाल, रोटी-पूरी, खीर-खोर, खीर-पूरी, खीर-महेरी, निमेना, खिचड़ी के चारों यार—घी, दही, पापड़, अचार, बरी-तिलौरी, फुलौरी-पकौरी, तरीं-बरीं, रसखीर, दाल-कलफा।

पक्की

पूरी-कचौरी, पूरी-परामठा, पूरी-तरकारी, दिलखुशहाल-सुहाल रबड़ी-बसौंधी, लड्डू-पेड़ा, मोहनभोग-मालपूआ, सोहन-हलुआ, समोसा, बुंदियादाना, परवललत्तो, गुपचुप, बादाम की बर्फ़ी, कलाकंद, खाजा-खुरमा, गुलगुला, बड़ा पापड़, मटर की छीमी, बालाई-मलाई, इमरिती-इंदरसा, गुलाबजामन-जलेबी, गुटेटा, उलटा चीला, मोतीचूर-मगदल, मेवामिठाई, दूध-दही, मक्खन-मिसरी, नवनीत, मिष्टान्न, पक्वान्न, शाकान्न, चर्व्य-चोष्य, लेह्य-पेय पदार्थों के

सिवा मीठे-सीठे, खट्टे-चरपरे, कड़वे-कसैले, तीते, सारांश यह कि षट्रस की स्वादिष्ट सामग्री संगृहीत थी।

फल

फलाहारियों के लिये फलमूल, सेब-नासपाती, अंगूर-अनार, अंजीर-अखरोट, अमरूद-अनन्नास, आम-जामन, केले-नारियल, शहतूत, खिन्नी, आम-इमली, नीबू-नारंगी, कटहल-बड़हल, कमरख-कमलगट्टे, सीताफल-शरीफे, श्रीफल-बेल, चिरौंजी, किसमिस-पिस्ते, मुनक्के, बादाम-बिहीदाने, खीरे-ककरी, तरबूज और खरबूजे भी खरीदे गए थे।

मुसलमानों के लिये बावर्चियों के बनाए कलिया-कबाब, कलिया-पुलाव, कोफ़ता-कोर्मा, शीरमाल, जरदा बिरियानी, केक-बिसकिट, चा-चीनी, मुर्गमुतंजन वगैरह खाने अलग दस्तरखान पर चुने गए थे।

जिसे जुरता नहीं, वह बेचारा-बापुरा गरीब दालदलिया, सागसत्तू, चनाचबेना, रूखासूखा, मोटाझोंटा, मोटामहीन, पत्रंपुष्पं लेकर ही समधी का सत्कार करता है।

खाना खाने भोजन करने, भक्षण करने, भकोसने और भखने पर हाथ-मुँह धो, कुल्ला कर, खरके-तिनके से दाँत खोद कोई पान-सुपारी लौंग-लायची सुरती-जरदा तंबाकू खाता है, और कोई चिलम-तमाकू, टिकियातमाकू हुक्का गड़गड़ा चुरुट-बीड़ी-सिगरेट पीता है। नए शौकीन ताम्बूलविहार और जीनतान पर टूटते हैं। मतलब यह कि बँदोबस्त बड़ा बढ़िया था। जिसने जो माँगा वही मिला।

इसके बाद बरात बिदा हुई। बरतन-बासन, बासनकूसन, असन-बसन, जामाजोड़ा, लहंगालुगरा, ओढ़नाबिछौना, तोशकतकिया;

गहनागुरिया, गहनागाँठी, रुपएपैसे, जहेज, दानदहेज, दमाद को दस्तूर से ज्यादा दिए गए थे। नगदनारायण में भी न्यूनता न थी। जिन लोगों में लेनदेन की—ठहरौनी की—रीत है, उनमें बड़ा झगड़ाझंटा, झगड़ा-बखेड़ा होता है; पर यहाँ चींचपड़, गड़बड़शड़बड़ के बिना हँसीखुशी मामला मिटा। बिदा के वक्त स्त्रियों का मिलना-जुलना, मिलना-भेंटना, लिपटना, रोना-धोना देखकर पत्थर भी पसीजता था। जनाब, बेटी की बिदा है या दिल्लगी ? दुष्यंत के दरबार में शकुंतला को भेजते समय काननवासी कठोर कण्व का भी कलेजा काँप गया था। यह हमारा तुम्हारा नहीं, कवियों के कुलगुरु कालिदास का कथन है। खैर, बहू की बिदा ले बरात बस्ती के बाहर हुई। गौने-रौने की रस्म भी पूरी कर दी गई। जैसे गई थी, वैसे ही कुशल-मंगल बरात घर वापिस आई। बहू के निरीछन-परीछन हो जाने के बाद बेटे-बहू या वर-वधू का गृह-प्रवेश हुआ। पांवपड़ाई और मुंहदिखाई हुई। सास-ससुर, देवरानी-जिठानी, नंद-नंदोई से नया नेह नाता लगा। ससुराल में साली-सलहज, साला-साली और साढ़ू का संबंध स्वयंसिद्ध हो जाता है।

यहाँ तक तो अनुप्रास के अन्वेषण में कृतकार्य हुआ। आगे कौन कह सकता है कि क्या होगा। पर मैं पीछे पैर देनेवाला नहीं। धैर्य धारण कर दिन-दूने रात-चौगुने साहस और उत्साह से हाट-बाट, घरघाट, नदीनाले, जंगल-झाड़ी, बन-पर्वत की कौन कहे, देश-विदेश और सात समुद्र पार जाकर द्वीपद्वीपांतरों में दिनदोपहर, दिनदहाड़े, रातबिरात बेरोकटोक विचरण करूँगा, और मौक़ा मिलते ही अनुप्रास की ख़ुशख़बरी, शुभ समाचार सबको सुनाऊँगा। अभी तो गृहस्थाश्रम ग्रहण कर दार-परिग्रह ही हुआ है। उसके

सुख-संभोग, सुखशांति, संतान-सुख, राग-रंग और दुःख-दारिद्र; शोक-संताप, कलह-क्लेश, हर्ष-विषाद तथा जंजाल का ज़िक्र ही नहीं आया है। गृहस्थ को सभी भोग भोगने पड़ते हैं। यह देह का दंड है। लीलामय की लीला अपरंपार है। वह तिल को ताड़ और पर्वत का राई कर सकता है। भूतनाथ भगवान भवानीपति अलबेले भोलानाथ का ही भारी भरोसा है कि वह भलीभाँति भला करेंगे।

हमारी शिक्षा किस भाषा में हो ?*

आजकल का यह प्रज्वलित प्रश्न है कि हमारी शिक्षा किस भाषा में हो ? यदि यही प्रश्न विलायत में कोई अँगरेज़ करे, तो वह अवश्य पागल समझा जायगा; क्योंकि यह प्रश्न वैसा ही निरर्थक है, जैसा यह कि हम स्थल में रहें या जल में ? इसका उत्तर सिवा इसके और क्या हो सकता है कि प्रकृति जहाँ कहे, वहीं रहो। इसी प्रकार जिसकी जो मातृभाषा या देशभाषा है, उसी में उसकी शिक्षा होनी चाहिए, और यही नैसर्गिक नियम भी है। पर हमारे भारतवर्ष की बात ही निराली है। यहाँ ऐसे-ऐसे ही अनगढ़ प्रश्न उठा करते हैं, और उन पर खूब तर्क-वितर्क होता है। कभी-कभी वह कार्य में भी परिणत हो जाते हैं। इसी से विदेशी लोग भी कृपा कर हमारे हित के लिये नई-नई उद्भावनाएँ किया करते हैं। इन हितचिंतक नामधारियों की हम प्रशंसा करें या निंदा, यह अभी तक हमारी समझ में नहीं आया है। कुछ दिनों से हमारे एक नए हितचिंतक उत्पन्न हो गए हैं। आपका नाम रेवरेण्ड जे. नोल्स है। आपकी राय है कि, भारत में राष्ट्र-लिपि होने के योग्य यदि कोई लिपि है, तो वह रोमन ही है। आप राय देकर ही चुप नहीं हुए, परोपकार से प्रेरित हो उसके लिये परिश्रम भी कर रहे हैं; क्योंकि आप पादड़ी हैं, परोपकारी हैं, और पथ-प्रदर्शक हैं। यह रोमन

* संवत् १९७३ में, जबलपुर के सप्तम हिंदी-साहित्य-सम्मेलन में पठित।

लिपि कैसी है, यह आगे चलकर बतलाऊँगा। अभी दिग्दर्शन के लिये इतना ही कहना अलम् होगा कि किसीने रोमन में लिखा "अच्युत प्रसाद" और एक अँगरेज़ प्रिनसिपल ने उसे पढ़ा "ए च्यूटा प्रसाड !"

अच्छा, अब मैं अपने प्रश्न की ओर आता हूँ। सारे भारतवर्ष का विचार छोड़कर अपने हिंदीभाषी प्रदेशों की ही बात आज कहता हूँ। यहाँ विधि विडंबना से अँगरेज़ी, उर्दू, और हिंदी, इन तीन भाषाओं का तिगड्डम हो गया है। इसी से प्रश्न उठता है कि हमारी शिक्षा अँगरेज़ी में हो या हिंदी-उर्दू में। अँगरेज़ी राजभाषा है, हिंदी मातृभाषा और उर्दू को दाल-भात में मूसलचंद की भाषा के सिवा और क्या कहें ? क्योंकि यह न राजा की भाषा है, और न प्रजा की। हिंदी-उर्दू की बात फिर कभी कहूँगा। आज राजभाषा अँगरेज़ी का ही गुणगान करता हूँ। इसमें संदेह नहीं कि हमारा भारतवर्ष एक विचित्र देश है। विदेशी चालचलन, रहनसहन, रीति-नीति, भाषाभेष आदि सीखने में जैसा यह बहादुर है, वैसा और कोई देश नहीं। और बातें छोड़कर आज मैं भाषा के संबंध में ही कुछ कहूँगा। जो भाषा हमारी आत्मा के, हमारे शारीरिक संगठन के संपूर्ण प्रतिकूल है, उसे एक मनुष्य नहीं, एक जाति नहीं, सारा देश ग्रहण कर बैठा है। पोशाक जातीयता का जैसा चिह्न है, भाषा भी वैसे ही है। जिस देश का जैसा जलवायु होता है, वहाँ की पोशाक भी वैसी ही होती है। भाषा की भी वही दशा है। शरीर और मुख की बनावट से भाषा का बड़ा गहरा संबंध है। मनुष्य-जाति का संगठन देश-काल-पात्र के अनुसार होता है। इसी से सब जातियों का चाल-चलन एकसा नहीं है। जैसा देश, वैसा वेष। भाषा भी देश के

अनुसार ही बनती है। इन सबकी बनानेवाली देवी प्रकृति(Nature) है। वह एक दिन में नहीं, कई युगों में देश के जलवायु के अनुकूल वेष और भाषा तैयार कर देती है। किसीकी खाल खींचना उसे जान से मार डालना है। उस पर दूसरे की खाल चढ़ाना असंभव है, एक जाति को पोशाक छीनकर दूसरे को पहना देना संभव है; पर परिणाम इसका भी वैसा ही है। भाषा के बारे में भी वही बात है। गरम मुल्कवाले ढीलाढाला महीन कुरता पहनते हैं; और सर्द मुल्कवाले काला, मोटा, चुस्त कोट तथा पैंट। उत्तरी ध्रुव का निवासी मलमल का ढीलाढाला कुरता पहने, तो वह जाड़े से जकड़ जायगा, और सहारावासी मोटा ऊनी कोट पहने तो वह गरमी से घबरा जायगा। हमारे स्वास्थ्य और शरीर के लिये विदेशी परिच्छद जितना हानिकारक है उतनी ही मानसिक शक्ति के लिये विदेशी भाषा। जो भाषा हमारी आत्मा के, हमारे मानसिक और शारीरिक गठन तथा हमारे भाव और विचारों के बिलकुल विपरीत है, उसे दबाव में पड़कर ग्रहण करना कैसा भयानक कार्य है।

भारत की प्रायः सब भाषाएँ संस्कृत से निकली हैं। संस्कृत विशुद्ध और सरल भाषा है। अतएव उससे निकली हुई भाषाएँ भी विशुद्ध और सरल हैं, इसमें संदेह नहीं। कुछ लोगों का अनुमान है कि अँगरेज़ी का भी उद्‌गम-स्थान आर्यभाषा संस्कृत ही है; क्योंकि इसमें लैटिन और ग्रीक भाषाओं के साथ संस्कृत को भी पुट है। यदि यही बात है, तो मैं कहता हूँ कि अँगरेज़ी अनार्य भाषा से निकली है; क्योंकि इस में अनार्य भाषा के भी बहुत से शब्द हैं। संस्कृत से अँगरेज़ी कदापि नहीं निकली है।

हमारी संस्कृत-भाषा उन महात्माओं की बनाई है, जो भाषा-विज्ञान के पारदर्शी थे। इसी से यह सर्वांग सुंदर है। वर्ण, मात्रादि जितने अंग भाषा के हैं, वे सब इसमें पूर्ण रूप से हैं। अपूर्णता की तो इसमें गंध तक नहीं। इसका व्याकरण पूर्ण और नियम सुदृढ़ हैं—ऐसे सुदृढ़ कि उन्हें तोड़ने का कोई साहस नहीं कर सकता। क्या अँगरेज़ी में भी ऐसा कोई पक्का नियम है ? कदापि नहीं। अँगरेज़ी भाषा में न तो नियम हैं, और न व्याकरण। है केवल गड़बड़झाला। उच्चारण, शब्द-रचना, वाक्य-रचना, वर्ण-विन्यास (Spelling) आदि की विभिन्नता ही इसका प्रमाण है।

संस्कृत की शिक्षा-प्रणाली वैज्ञानिक और नियमानुकूल है; परंतु अँगरेज़ी की ठीक इसके विपरीत। इसी लिये अँगरेज़ी शिक्षा हमारी मानसिक शक्ति पर व्याघात पहुँचाने के सिवा और कुछ नहीं करती। अँगरेज़ी पढ़ना अपना शरीर नष्ट करना है। स्वभाव के विरुद्ध आचरण करने का यही फल है। जिन्हें इस बात का विश्वास न हो, वे आँखें खोलकर अँगरेज़ी शिक्षित समाज को देख लें। किसीको आँखें ख़राब हो गई हैं, तो किसी का हाज़मा बिगड़ गया है, किसीको मंदाग्नि है, तो किसीको और कुछ। मतलब यह कि प्रायः सभी कृश और बलहीन मिलेंगे। चर्मचक्षुओं पर चश्मा लगाने की तो चाल-सी चल पड़ी है। इनमें कुछ तो शौक़ के आँखें रहते अंधे बनते हैं; पर बाक़ी अँगरेज़ी शिक्षा का ही फल भोगते हैं।

हमारी शिक्षा वैज्ञानिक कैसे है, यह संस्कृत और अँगरेज़ी की वर्णमालाएँ मिलाकर देखने से ही मालूम हो जायगा। आपको संस्कृत की वर्णमाला पूर्ण और अँगरेज़ी की अपूर्ण मिलेगी। संस्कृत

के अक्षर सीधेसादे और पूरे हैं। प्रत्येक अक्षर की एक विशेष ध्वनि है—जैसी ध्वनि, अक्षर भी वैसा ही। अहा! ज़रा देखिए तो सही कि ये अक्षर कैसी सुंदरता और नियम से बनाए गए हैं। व्यंजन पाँच वर्गों में विभक्त हैं क, च, ट, त और प। येही पाँच वर्ग हैं। क वर्ग का उच्चारण जिह्वा के मूल से होता है, अर्थात् कंठ से और च वर्ग का तालू से। यह स्थान कंठ से ज़रा आगे है। ट वर्ग का उच्चारण मूर्द्धा से होता है। यह तालू के ज़रा आगे है; त वर्ग का दाँतों से, और प वर्ग का होठों से होता है। ये स्थान भी क्रमशः आगे बढ़ते आए हैं। इसी प्रकार प्रत्येक वर्ग के अक्षर क्रमानुसार रखे गए हैं। स्वरों को भी देख लीजिए। उच्चारण के अनुसार उनका भी क्रम है।

अब ज़रा अँगरेज़ी अक्षरों की कथा सुन लीजिए। वे पूरे हैं या अधूरे, यह मैं कुछ न कहूँगा। हाँ, इतना अवश्य कहूँगा कि उसमें त वर्ग नहीं है। वहाँ एक ही अक्षर को कई अक्षरों के काम करने पड़ते हैं। इसी से आप को जो कुछ समझना हो समझलें। कई अक्षरों की ध्वनि अस्पष्ट और गड़बड़ है। I, U, Y, W, X, V, Z, इसके नमूने हैं। आप ही कहिए, इनके उच्चारण में भला कौन सा नियम है? क्रम भी "तथैवच" है। व्यंजनों का उच्चारण और भी ग़ज़ब ढाहता है। हमारे यहाँ प्रत्येक व्यंजन के अंत में अ है; पर अँगरेज़ी में इसका कोई नियम नहीं। किसी के आगे A (ए) है, तो किसी के पीछे E (ई)। अक्षरों का क्रम भी माशाअल्लाह है! "अ" का पता ही नहीं, और (A) आ बैठा है। न E (ई) का ठिकाना, और न ब का; पर A (ए) के बाद B (बी) विराज रही है। अगर कोई पूछ बैठे कि यह B (बी)

कहाँ से आ टपकी, तो अँगरेज़ीवाले क्या जवाब देंगे ? यह सब कोई जानते और मानते हैं कि स्वर की सहायता बिना व्यंजन का उच्चारण नहीं हो सकता। E (ई) की सृष्टि अभी हुई नहीं, और न व का ही जन्म हुआ, फिर इन दोनों का योग कैसे हो गया ? क्या यह आश्चर्य की बात नहीं ? W (डबल्यु) कभी स्वर और कभी व्यंजन माना जाता है। इसके व्यंजन होने में तो कुछ संदेह नहीं; पर यह स्वर कैसे हो गया, यही आश्चर्य है। एक विचित्र बात और भी है, इसका नाम तो है डबल्यु याने दो यु; पर ई (E) के साथ इसका संयोग होते ही यह "वी" (We) हो जाता है। U तो S के साथ मिलकर "अस" होता है, फिर डबल्यु, ई (WE) 'वी' कैसे हो गया ? इसे तो 'ई' होना चाहिए था। ख़ैर, हमारे अक्षरों में ये सब दोष नहीं हैं। ये सरल हैं। इन्हें एक बच्चा भी अनायास सीख सकता है; क्योंकि यह वैज्ञानिक रीति से बनाए गए हैं। इसी से इनमें सरलता आगयी है। सरलता का ही नाम विज्ञान है।

अब तनिक अँगरेज़ी शब्दों का मुलाहिजा कीजिए। एक ही शब्द में कई प्रकार की ध्वनियाँ होती हैं। नमूने के लिये Foreigner हाज़िर है। इसमें चार स्वर हैं। इन चारों के उच्चारण की ओर ध्यान दीजिए। वर्णमाला में उनके जो उच्चारण हैं, यहाँ उनसे बिलकुल विलक्षण। एक व्यंजन का तो उच्चारण ही लोप है। कहिए, कैसी अद्भुत भाषा है। भला ऐसी भाषा के अध्ययन में अपना समय लोग क्यों नष्ट करते हैं ? अँगरेज़ी भाषा में जो शब्द लैटिन या ग्रीक भाषाओं से आए हैं, उनमें उपसर्ग और प्रत्यय (Prefixes and suffixes) लगते हैं, और उनका विशेष

अर्थ धातुओं के अनुसार हमारी भाषा की तरह नियम से होता है। पर अँगरेज़ी (Anglo saxon) के जो विशुद्ध शब्द हैं, उनके बारे में कुछ मत पूछिए। उनकी बनावट में बड़ा गड़बड़ाध्याय है। नियम का तो वहाँ नियम ही नहीं है, और न व्युत्पत्ति का कोई ठिकाना। मनमानी घरजानी है। अँगरेज़ी भाषा के विशुद्ध शब्द बलवान (Strong) कहलाते हैं; पर हैं वे निमय-विरुद्ध। जो नियम-बद्ध हैं, उनका नाम है दुर्बल (Weak)। नियम-विरुद्धता के मानी बलवत्ता और नियम-बद्धता के मानी दुर्बलता है। भाव-प्रकाश करने का कैसा अच्छा ढंग है!

जहाँ भाव का अभाव है, वहाँ शब्दों का भी है। अँगरेज़ी भाषा पहले नितांत दरिद्र थी। इसी से अन्य भाषाओं के शब्दों से उसे अपना पेट भरना पड़ा है। संसार में आर्य या अनार्य, ऐसी कोई भाषा नहीं, जिससे इसने ऋण न लिया हो। पर इसमें भी बड़ी चालाकी है। अन्य भाषाओं के शब्द इस तरह तोड़े, फोड़े और मरोड़े गए हैं कि उनके असली रूप का पता लगाना कठिन हो गया है। उदाहरण के लिये Orange सामने है। कहिए, इसका मूलरूप क्या है? मैं समझता हूँ, नारंगी ने ही Orange का रूप धारण किया है।

अब इसके रूपांतर की रामकहानी भी ज़रा सुन लीजिए। किसी चतुर अँगरेज़ के हाथ एक नारंगी लगी। उसने अपनी लिपि में उसे A norangi लिखा। कुछ दिनों के बाद a norangi का N (एन) A (ए) के साथ जा मिला। तब a norangi की an orangi बन गई। बिंदी घिस जाने से i (आई) की e (ई) हो गई। बस a norangi का खासा An orange बन गया। कहिए,

कैसा जादू है। इसी तरह और शब्दों का भी काया-कल्प हुआ है। लेख बढ़जाने के भय से केवल एक ही उदाहरण दिया गया है। इस काया-कल्प की चाल हिंदी, बंगला आदि भारतीय भाषाओं में भी है; पर देववाणी संस्कृत में नहीं।

अब ज़रा अँगरेज़ी व्याकरण की लीला देखिए! एकवचन से बहुवचन बनाने का कोई पक्का नियम ही नहीं है। Loaf का बहुवचन Loaves है; पर Hoof का बहुवचन है Hoofs। इसी तरह man का men, Boy का Boys, mouse का mice और Cow का Kine होता है।

लिंग-प्रकरण में भी वही गड़बड़झाला है। असली अँगरेज़ी पुल्लिंग शब्दों के स्त्रीलिंग बनाने में विकार नहीं होता—उनका रूपांतर होजाता है। जैसे, Bachelor का Maid; Hart का Roe; King का Queen आदि। पर Emperor की Empress और actor की actress आदि का भी मुलाहज़ा कर लीजिए। ये विदेशी शब्द हैं। अँगरेज़ी वैयाकरणों की प्रतिभा स्त्रीलग के लिए नए-नए शब्द गढ़ते-गढ़ते जब कुंठित हो गई, तो पुल्लिंग और स्त्रीलिंग का भेद बताने के लिए उन्होंने शब्दों में He, she; man, maid; cock, Hen जोड़ देने की प्रथा निकाली। जैसे, He-goat का she-goat; man-servant का maid-servant और cock-sparrow का Hen-sparrow आदि।

उच्चारण और वर्ण-विन्यास की दशा और भी हास्य-जनक है। इनके लिये न तो कोई नियम है, और न क़ायदा। केवल बाबा-वचन का भरोसा है। जैसा सुनो, वैसा कहो। भला इस जबरदस्ती का भी कुछ ठिकाना है! जी+ओ=गो (go), और डी+ओ=डू (do);

एच+ई+आर+ई=हीअर (Here) और टी+एच+ई+आर+ई=देअर (There); डी+डबल ई+आर=डीयर (Deer) और डब्लयु+डबल ई+के=वीक (Week) डी+ई+ए+आर=डीयर (Dear) आदि में क्या कोई नियम है ? 'जी' के साथ तो 'ओ' का ओ बना रहा; पर 'डी' के साथ 'ऊ' हो गया ! एच+ई+आर+ई=here (हीयर) होता है, तो टी+एच+ई+आर+ई=दीअर होना चाहिए। जब w, e, a, k वीक होता है, तो d, e, a, r डीर न होकर डीयर क्यों हुआ ? w, e, e, k वीक होता है, तो d, e, e, r डीर होना उचित था। पर क्यों ऐसा नहीं हुआ ? यह भगवान ही जाने। c के उच्चारण में भी बड़ी आफ़त है। कहीं तो वह 'क' (k) का काम देती है, और कहीं 'स' का-जैसे Circumference, इस एक ही शब्द में "सी" (c) ने दो रूप धारण किए हैं। अगर कहा जाय कि शब्द के आरंभ में "सी" (c) का उच्चारण 'स'-जैसा और मध्य में 'क'-जैसा होता है, तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि हमारे Calcutta में ऐसा नहीं होता। यहाँ आदि और मध्य, दोनों जगह 'सी' (c) ने 'क' का रूप धारण किया है। एक बात और है। जब कलकत्ते और कानपुर में "सी" (c)का साम्राज्य है, तो कालका और काल्पी पर "के"(k)की कृपा क्यों हुई ? क्या कोई इसका कारण बता सकता है ? अच्छा, आगे चलिए। पी+यु+टी=पुट (Put), और बी+यु+टी=बट (But); पी+आई+जी=पिग (Pig) और एस+आई+आर=सर (Sir) आदि शब्द तो अँगरेज़ी भाषा की त्रुटियाँ डंके की चोट बता रहे हैं। पर कुछ ऐसे शब्द भी हैं, जिनके सब अक्षरों का उच्चारण ही नहीं होता। जैसे G, N, A, T =नेट; P, S, E, U, D, O,

N, Y, M,=सुडोनियम; P, S, A, L, M,=साम; K, N, O, W, L, E, S,=नोल्स आदि। नेट (gnat) में 'जी' (G) का, सुडोनियम, (Pseudonym) में 'पी' (P) और 'ई' (E) का, साम (Psalm) में "पी" (P) और 'एल' (L) का उच्चारण नहीं होता। नोल्स (Knowles) में 'के' (K) खासी करवट ले गया है, डवल्यु (W) डर गया और 'ई' (E) बेचारा बेमौत मर गई है। यह वही नोल्स हैं, जो भारत में रोमन लिपि चलाने की चेष्टा कर रहे हैं। नोल्स के नाम का रोमन में यह परिणाम है, तो उसका काम कैसा है, यह आप स्वयं सोच लें। जब इन अक्षरों का उच्चारण ही नहीं होता है, तब इन्हें इन शब्दों में मिलाकर लिखने की ज़रूरत ही क्या थी ? कुछ ऐसे भी शब्द हैं, जो लिखे जाते कुछ हैं, और पढ़े जाते कुछ। जैसे, Lieutinant आदि। यह लिखा जाता है लिउटिनेंट; पर पढ़ा जाता है लेफ़टिनेंट। अगर कोई इन बातों का कारण पूछे, तो अँगरेज़ी के वैयाकरणों से चुप रहने के सिवा और कुछ जवाब देते न बनेगा। ऐसे एक या दो नहीं, सैकड़ों शब्द मिलेंगे। मैंने तो उदाहरण के लिये केवल दो-चार शब्द लिख दिए हैं।

अच्छा, अब शब्द-योजना की भी चाशनी देख लीजिए। A flying fox and running water का मतलब तो आपने समझ ही लिया होगा; पर a walking stick and a drinking cup का क्या मतलब है ? अगर flying fox का अर्थ भागती हुई लोमड़ी और running water का बहता पानी है, तो Walking stick का अर्थ टहलती हुई छड़ी और drinking cup का पीता हुआ प्याला होना चाहिए। पर होता है टहलने की छड़ी,

और पोने का प्याला। इस एक ही प्रकार की शब्द-योजना में दो प्रकार के अर्थ क्यों? क्या इसका कुछ कारण है?

इन कई शताब्दियों में अँगरेज़ी-भाषा बहुत परिवर्तित हुई है, यह भी ध्यान देने योग्य बात है। चॉसर की अँगरेज़ी आजकल की अँगरेज़ी से बिलकुल भिन्न है। शेक्सपीयर की अँगरेज़ी समझ लेना सहज नहीं। लोग कहते हैं, वह व्याकरण की परवा नहीं करता था। पर उस समय व्याकरण ही नहीं था, वह परवा किसकी करता! जो हो उसके भाव सुंदर और ऊँचे थे, इसमें संदेह नहीं।

इन कई उदाहरणों से आपको मालूम हो गया होगा कि अँगरेज़ी कैसी भाषा है। इसमें न व्याकरण है, न नियम है और न क़ायदा। अगर कुछ है, तो वह है अक्षरों का अभाव, वर्णविन्यास का व्यतिक्रम और उच्चारण की उच्छृंखलता। यह मैं पहले ही कह चुका हूँ। इन कारणों से ही यह भारतवर्ष के उपयुक्त भाषा नहीं है। इसे पढ़ना अपने समय और शक्ति का सत्यानाश करना है। केवल यही नहीं, इससे स्वास्थ्य को भी हानि पहुँचती है। अँगरेज़ी-भाषा हमारी मानसिक शक्ति को दुर्बल कर डालती है। इससे हमारी सच्ची उन्नति नहीं होती, उलटे उसमें रुकावट पहुँचती है। बालकों को मातृभाषा में गणित, विज्ञान, भूगोल और इतिहास पढ़ाने से वे बहुत जल्द समझ लेते हैं; पर वे ही चीजें अँगरेज़ी में पढ़ाने से कठिन हो जाती हैं। लड़के उन्हें जल्द नहीं समझ सकते। किसी लड़के से मौसमी हवा (Monsoon) के बारे में पूछिए, तो वह अँगरेजी में ठीक-ठीक उत्तर दे देगा; पर हिंदी में समझाने कहिए तो उसकी नानी मर जायगी; क्योंकि उसने स्वयं समझा नहीं, तोते की तरह केवल रट लिया है।

जो विषय कॉलिज के छात्र भी नहीं समझ सकते, उन्हें मातृ-भाषा में बताने से हमारे छोटे-छोटे बच्चे अनायास समझ लेते हैं। हम भारतवासियों के लिये अँगरेज़ी-जैसी दुरूह भाषा में किसी विषय का सीखना बड़ी कठिनता का काम है। दुधमुहे बच्चों को विदेशी भाषा पढ़ने के लिये लाचार करना बड़ा अन्याय है। इसमें भी दोष हमारा ही है। आजकल हमारी अवस्था जैसी हो रही है, उसमें हम अँगरेज़ी पढ़े बिना कुछ नहीं कर सकते। जो कुछ पाश्चात्य विज्ञान और शिल्पकला हमने सीखी है वह इसी अँगरेज़ी के अनुग्रह से। अतएव हमें इसका कृतज्ञ होना चाहिए। अभी हमें बहुत कुछ सीखना बाक़ी है। अँगरेज़ी-भाषा ज़रूर सीखनी चाहिए, पर उसके अध्ययन की आवश्यकता नहीं, क्योंकि इसके अध्ययन से विशेष कुछ लाभ नहीं। भाषा-तत्वविद् भले ही इसका अध्ययन करें; पर सब लोगों को इसके लिये परिश्रम करने की क्या ज़रूरत है ? इसमें जो अच्छे विषय हैं, उन्हें सीखना ही हमारा उद्देश्य है, कुछ भाषा की बारीकियाँ नहीं। फिर क्यों हम अपना समय, स्वास्थ्य और शक्ति इसके अध्ययन में नष्ट करें ? इससे क्या लाभ होगा ? मैं जानता हूँ, ऐसे मनुष्य भी हैं, जो अँगरेज़ी-भाषा की बारीकियाँ और खूबियाँ जानने के लिये अपना सारा समय और सारी शक्ति लगा देते हैं। वे केवल नाम पैदा करने के लिये ऐसा करते हैं। क्या वे अपने इस परिश्रम से अँगरेज़ी-भाषा को उन्नत कर देंगे ? कभी नहीं। जो ऐसा विचार करते हैं, वे भूलते हैं। अँगरेज़ी की उन्नति के लिये अँगरेज़ों को ही छोड़ दीजिए। आप अपना घर सम्हालिए। उधर की अपेक्षा इधर आपको नाम पाने का ज़्यादा मौक़ा है। जो कुछ थोड़ा-सा उत्साह आपके पास है, उसे फ़ालतू कामों में व्यर्थ नष्ट मत कर दीजिए।

अब प्रश्न यह है कि अँगरेज़ी-भाषा हमें सीखनी है, तो कौन-सी भाषा सीखनी चाहिए ? चॉसर की या शेक्सपीयर की, जॉन-सन की या मेकॉले की, अँगरेज़ी कवियों की या पंडिताभिमानियों की, नगर-निवासियों की या देहाती गँवारों की ? मैं कहूँगा, इनमें से किसीकी भी नहीं।

हमें हेनबी (Hanby) डारविन (Darwin) और स्पेंसर (Spencer) की भाषा सीखनी चाहिए—विज्ञानी, शिल्पी, और व्यवसायियों की भाषा सीखनी चाहिए। यह बड़े दुःख की बात है कि हमारी युनिवर्सिटियाँ बड़ी निर्दयता से अँगरेज़ी-भाषा का अध्ययन करने के लिए हम पर दबाव डालती हैं। इसी से प्रतिवर्ष सैकड़े पीछे ४०-५० लड़के अँगरेज़ी में फेल होते हैं। यदि शेक्सपीयर और मिल्टन स्वयं आते, तो वे भी इन परीक्षाओं में अवश्य फेल होते। फिर बेचारे भारतवासियों की गिनती ही क्या है ?

किसी भाषा के सीखने में समय लगाना उसे वृथा खो देना है। भाषा का ज्ञान तो विषय के साथ-साथ होता है। जो विषय के बिना भाषा सीखते हैं, वे कभी सफलता प्राप्त नहीं कर सकते। हक्सले साहब (Huxley) की राय है कि भाषा सीखने में समय नष्ट करना उचित नहीं। वह कहते हैं कि जैसे लड़कियाँ कपड़े पहनने में समय ख़राब करती हैं, वैसे ही लड़के भाषा सीखने में। बुरी आदतें तुरंत छुड़ानी चाहिए; पर अफ़सोस ! इस अभागे देश की दशा ही विचित्र है। युनिवर्सिटियाँ हमें उच्च श्रेणी की प्राचीन अँगरेज़ी Classical English पढ़ाने के लिये क़सम खाए बैठी हैं। नतीजा चाहे कुछ हो; पर वे तो ज़बरदस्ती सड़ी-गली चीज़ें हमारे गले में ठूँसेंगी।

युनिवर्सिटियाँ एक ऐसी भाषा सिखलावेंगी, जिसके न कुछ मानी है, और न कुछ मतलब। उससे हमारी मानसिक शक्ति पर इतना ज़ोर पहुँचता है कि वह नाश न होती हो तो बिगड़ ज़रूर जाती है। तोते की तरह हम रटाए जाते हैं, और उसी तरह हम बोलते भी हैं। लड़कों को अँगरेज़ी मुहावरे के पीछे हैरान न होना चाहिए; क्योंकि अधिकांश मुहावरे बेमतलब और बेमानी हैं। पर वे बेचारे करें क्या ? उनके गुरु तो नहीं मानेंगे। वे तो परीक्षा में उन्हें उत्तीर्ण कराने के हेतु खोज-खोजकर Idioms रटाते हैं। मैं जब मुंगेर के ज़िला-स्कूल में पढ़ता था, तब वहाँ भी एक मास्टर थे, जिन्हें Idioms रटाने की बीमारी थी। उनकी राय थी कि, Idioms याद किए बिना अच्छी अँगरेज़ी नहीं आती। इसी से वह एक घंटा रोज Idioms रटाते थे। आनंद की बात है कि मैं उनके पंजे से निकल गया, और सकुशल निकला हूँ। मेरे कई सहपाठी तो बिलकुल बेकाम हो गए हैं। उन लोगों ने परीक्षाएँ तो बहुत पास कीं, पर शारीरिक बल उनमें कुछ नहीं है। मेरे साथ दो मुसलमान लड़के पढ़ते थे। वे ही फर्स्ट और सेकेंड हुआ करते थे। मेरा नंबर बराबर तीसरा रहता था। यह अवस्था पाँचवें दरजे से लेकर एंट्रेंस-क्लास तक रही। वे दोनों मुझसे बुद्धि में तीव्र थे, पर परिश्रमी बड़े भारी थे। जो फर्स्ट होता था, वह किताब का कीड़ा हो गया था—दिनरात में कुल तीन-चार घंटे सोता था। दोनों ही दुबले, पतले और कमज़ोर थे। जब कभी फर्स्ट और सेकेंड होने के कारण वे शेखी मारते, तो मैं कहता—"आओ कुश्ती लड़लो।" इस पर हँसकर वे चुप हो जाते थे। जो फर्स्ट रहता था, वह एंट्रेंस से बी० ए० तक बराबर फर्स्ट डिवीजन

में पास होता गया। एंट्रेंस तथा एफ़० ए० में उसे छात्र-वृत्ति भी मिली थी। उस समय इन परीक्षाओं के यही नाम थे। बी० ए० पास करने पर वह मुझसे मिला था। वह बहुत कमज़ोर हो गया था। उसके गले से अकसर ख़ून गिरता था। पीछे वह विलायत चला गया। अब मालूम नहीं, उसकी क्या दशा है, और वह कहाँ है। जो सेकंड होता था, वह, अफ़सोस के साथ कहना पड़ता है, अब दुनिया में नहीं है। एंट्रेंस और एफ़० ए० की परीक्षाओं में तो वह पहली बार ही उत्तीर्ण हो गया था; पर बी० ए० में आकर अटक गया। रटनेवालों की प्रायः यही दशा होती है। तीन-चार बार फ़ेल होकर वह पास हुआ सही; पर उसकी तंदुरुस्ती पहले ही जवाब दे चुकी थी। आख़िर वह थोड़े ही दिनों में चल बसा! वहीं एक बी० ए० पास मास्टर थे, जो बहुत अच्छी अँगरेज़ी लिखते थे, पर उन्हें मैंने नीरोग कभी नहीं देखा। एक-न-एक रोग उन्हें घेरे ही रहता था। छात्रावस्था में अधिक श्रम करने के कारण ही उनकी ऐसी दशा थी! भागलपुर में एक वकील थे। वह राय बहादुर भी थे; पर सदा बीमार रहते थे—बदहज़मी के डर से कभी भर पेट नहीं खाते थे। उन्होंने अपने रसोइयों को ज़ायकेदार चरपिरी चीज़ें बनाने के लिये मना कर दिया था। अच्छी चीज़ें बनने से ज्यादा खा लेते थे, पर पीछे बीमार हो जाते थे। इसी से उन्होंने ऐसा नियम बना रक्खा था। न स्वादिष्ट भोजन बनेगा, और न ज्यादा खाकर बीमार पड़ेंगे। ऐसे एक नहीं अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं; पर विस्तार-भय से यहीं बस करता हूँ। देखिए, कैसी रक्त चूसनेवाली हमारी युनि-वर्सिटियाँ हैं! इनके मारे हमारे बच्चे दिन-पर-दिन दबते चले

जाते हैं। जबतक इनका सुधार न होगा, उन्नति का नाम लेना ही वृथा है। इन युनिवर्सिटियों की तरफ़ देखकर जब अपने होनहार बच्चों की ओर देखता हूँ, तो होश उड़ जाते हैं। अँगरेज़ी पढ़ना ही बुरा नहीं, उसके पढ़ाने की प्रणाली भी बुरी है। इस प्रणाली से मनुष्य की मानसिक शक्ति बढ़ने के बदले और घट जाती है। पढ़नेवालों पर पुस्तकों का इतना बोझ लाद दिया जाता है कि वे वहीं दब जाते हैं। वे शेर होने के बदले गीदड़ हो जाते हैं। स्वर्गीय बाबू हरिश्चंद्र, पं० प्रतापनारायण मिश्र, पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र, बाबू बालमुकुंद गुप्त आदि जिन सज्जनों का स्मरण हम श्रद्धा और प्रेम से करते हैं, वे अगर विश्वविद्यालय का मुख देख लेते, तो शायद आज मुझे उनके नाम लेने का भी अवसर हाथ न लगता। यह लेख हिंदी का है, इससे मैंने केवल हिंदी के ही लेखकों और कवियों के नाम लिए हैं; विस्तार-भय से भारत की अन्यान्य भाषाओं के लेखकों के नाम छोड़ दिए हैं। ये लोग पहली ही मंजिल से ठोकर खाकर लौट आए, इसी से बच गए। मेरे कहने का यह तात्पर्य नहीं कि विश्वविद्यालय के सभी कृतविद्य निकम्मे होते हैं। पर इतना अवश्य कहूँगा कि उनकी संख्या अधिक है।

हमारा प्रधान उद्देश्य अँगरेज़ी-भाषा सीखना होना चाहिए, उसका अध्ययन करना नहीं। अँगरेज़ी-कविता सबको पढ़ने की ज़रूरत ही क्या है ? क्या हमारी भाषा में कविता नहीं है ? हमारी भाषा का एक-एक शब्द विदेशी भाषा की बड़ी-बड़ी कविताओं के तुल्य है। हमारे यहाँ आलंकारिक भाव इतने हैं कि कल्पों तक चलेंगे। काव्यों की आवश्यकता उन्हें ही होती है, जो अपनी

अत्यधिक चंचल प्रकृति को शांत और स्वस्थ बनाया चाहते हैं। हम लोगों को तो काव्य की अधिकता ने बिलकुल ढीला तथा प्राणहीन बना डाला है। हमें अगर कुछ ज़रूरत है, तो उत्तेजना की। वह शिल्प और विज्ञान के रूप में होनी चाहिए। सरल भाषा में शिल्प, विज्ञान, इतिहास और जीवनचरित आदि की पुस्तकें हमें पढ़ाई जानी चाहिए। हमें अँगरेज़ी-साहित्य नहीं चाहिए, और न हमें उससे कुछ मतलब है।

यदि अँगरेज़ी-साहित्य पढ़ना ही है, तो हमें एडीसन और गोल्डस्मिथ-जैसों की रचनाएँ पढ़नी चाहिए—जॉनसन, मेकॉले, स्माइल्स और कारलाइल (Carlyle) की नहीं। पहले दोनों ने पांडित्य दिखाने के लिये शब्दाडंबर तो बहुत किया है; पर उनमें कुछ सार नहीं। पिछले दोनों में कुछ सार है, तो वह कष्ट-कल्पित है। यदि किसीको अँगरेज़ी-साहित्य सीखने की अभिरुचि है, तो उसके लिये अलग क्लास होनी चाहिए। सबको इसके सीखने के हेतु विवश करना उचित नहीं। केवल अँगरेज़ी-भाषा सीखने-वालों के लिये शब्दों की व्युत्पत्ति, धातु और अर्थ-व्यवहारादि आरंभ में व्याकरण से सीखने की ज़रूरत नहीं। कानों से सुनकर और आँखों से देखकर सीखना चाहिए। यहाँ के विश्वविद्यालयों में भाषा सिखाने का ढंग बिलकुल बेहूदा है। यहाँ छः वर्षों में भाषा का ज्ञान होता है और वह भी पूरा नहीं। पर उक्त ढंग से ६ महीने में ही काम बन जाता है। एक जर्मन ने फ्रांसीसी भाषा सीखने के लिये उस भाषा का व्याकरण घोंट डाला, कोश रट डाला, स्कूल में जाकर लेकचर सुन डाला; पर फल कुछ न हुआ। उसकी एक साल की मेहनत यों ही गई। इसके बाद वह सब कितावें फेककर

फ्रांसीसी लड़कों की संगत करने लगा। बस ६ महीने में ही वह उस भाषा में वातचीत करने लग गया ! मद्रास के परिया किसी स्कूल में पढ़ने नहीं जाते, पर अँगरेज़ों के साथ रहकर मजे में अँगरेज़ी बोल लेते हैं। किसी देश की भाषा सीखने के लिये पहले कानों और आँखों का सहारा लीजिए, पीछे पुस्तकें पढ़िए। बस, आप वह भाषा उस देश के निवासियों की तरह बोलने और लिखने लगेंगे। थोड़े ही दिनों में आप उसमें पारंगत हो जायँगे। देखिए, इस ढंग से आपका कितना समय बचता है।

अगर अँगरेज़ी-भाषा का लेहज़ा सीखना हो, तो अँगरेज़ों की संगत कीजिए, और उनकी वातचीत ध्यान से सुनिए। बोलने के समय उनके मुख की ओर ध्यान से देखिए, और उनकी जीभ और होठों की गति का भलीभाँति अवलोकन कीजिए। उच्चारण सीखने का यह वहुत सीधा उपाय है। पर प्रश्न यह है कि हम इतना श्रम करें क्यों ? इससे फ़ायदा ? कुछ भी नहीं। भारत-वासियों को अँगरेज़ी के लिये इतना श्रम न करना चाहिए। उनके लिए यह अस्वाभाविक काम है। शीत-प्रधान देशवालों की बनावट उष्ण-प्रधान देशवालों से नहीं मिलती; सर्दी उत्तेजित करती और गरमी दवाती है। सर्दी से फुर्ती आती है, पर गरमी से सुस्ती। सर्दी नसें जकड़ देती है, और गरमी उन्हें ढीली। जब नसें तनी रहती हैं, तो आवाज़ ऊँची, तीखी और कर्कश निकलती है, और ढीली रहने से धीमी, नीची और भारी। पट्टे की तरह नसें भी गरम मुल्कों में ढीली पड़ जाती हैं। गरम देशवालों के चमड़े और होंठ सर्द मुल्कवालों के होठों से मोटे होते हैं—सीना

तथा फेफड़ा छोटा होता है। जिनकी नसें मज़बूत और तनी होती हैं, उनकी आवाज़ स्वभाव से कर्कश और बेसुरी होती है, पर जिनकी नसें ढीली हैं, उनकी आवाज़ मीठी, सुरीली और धीमी होती है। हमारी वर्णमाला तथा शिक्षा-प्रणाली ऐसी है कि हम सब कुछ उच्चारण कर सकते हैं। अँगरेज़ी-भाषा अनगढ़, रूखी, कड़ी और नीरस है; पर हमारी भाषा कोमल, मधुर, सहज और सरस है। यह पक्षपात नहीं, सत्य है। हम अँगरेज़ों की नक़ल कर सकते हैं; पर इसकी ज़रूरत ही क्या है? क्या फ़्रांसीसी, इटालियन और जर्मन कभी नक़ल करते हैं? नहीं। फिर हमीं क्यों करें? जो हज़म हो सके, वही खाना अच्छा है। हम न भाषा ही हज़म कर सकते हैं, और न लहजा ही। इतना सरतोड़ परिश्रम करने पर भी अँगरेज़ों की तरह की अँगरेज़ी लिखनेवाले भारतवर्ष में कितने हैं? मुश्किल से एक दर्जन। जापानियों की तरफ़ देखिए! वे फ़्रांस, जर्मनी और इँगलेंड जाकर भाषा तो सीखते हैं, पर अध्ययन नहीं करते; भाषा सीखकर वहाँ की शिल्पकला की शिक्षा लाभ करते हैं। फिर अपने देश में आकर देशवासियों को अपनी भाषा में शिल्पकला सिखलाते हैं। इसी से जापानी आसानी से सब बातें सीख लेते हैं। अगर अँगरेज़ी या और किसी विदेशी भाषा में वह शिक्षा दी जाती, तो जापानी कभी नहीं उन्नति कर सकते, उलटे उन्हें औंधे-मुँह गिरना पड़ता। प्रायः एक शताब्दी से हम इँगलेंड से शिक्षा पा रहे हैं; विज्ञान और शिल्प की शिक्षा भी पचास साल से मिलती है; पर हम जहाँ-के-तहाँ हैं। जापान ने अल्प समय में जितना सीख लिया है, उसका सौवाँ हिस्सा भी हम इतने दिनों में क्यों नहीं सीख सके? इसका सबब यह है कि हम सुमार्ग से नहीं चलते। हमारा

समय भाषा के अध्ययन में ही वीत जाता है, शिल्प और विज्ञान सीखने की नौवत ही नहीं आती।

सच्ची-सी वात यह है कि जापान के हाथ में जो सब सुवीते और मौके हैं, वे हमारे हाथ में नहीं हैं। अगर होते, तो क्या हम कुछ न कर दिखाते ? ज़रूर कर दिखाते। जापान की ओर देखते हैं, तो लज्जा से गर्दन नीची हो जाती है। हम जहाँ-के-तहाँ खड़े हैं, और वह सरपट भाग रहा है। हम दौड़ें कैसे ? हमारे तो पैरों में जंज़ीर और सिर पर बोझ है। इँगलेंड पाश्चात्य विज्ञान सिखाने की चेष्टा कर रहा है; पर हम उससे लाभ उठाने में असमर्थ हैं।

मैंने जो कुछ कहा, उसका यह मतलव नहीं कि आज ही सब लड़के स्कूल-कॉलेजों से नाम कटवा लें, और हम अँगरेज़ी का वहिष्कार कर दें। मेरा कहना यही है कि लोग आँखें मूँदकर अँगरेज़ी न पढ़ें, और न उसके पीछे पागल हो जायँ। वोलने-चालने और लिखने-पढ़ने योग्य अँगरेज़ी अवश्य सीखें; क्योंकि यह राजभाषा है। इसके जाने विना हम कोई काम आजकल नहीं कर सकते। हाँ, अध्ययन की आवश्यकता नहीं। जो भाषाविद् होना चाहें, वह कर सकते हैं। सबके लिये इसकी पावंदी न होनी चाहिए। मेरी तुच्छ सम्मति है कि फ्रांस, जर्मनी और इँगलेंड की इतिहास, जीवन-चरित, विज्ञान और शिल्पकला-संवंधी अच्छी-अच्छी पुस्तकों का हिंदी में उल्था हो, और वे पढ़ाई जायँ। विश्वविद्यालयों में अँगरेज़ी गौण भाषा हो, और वह इच्छा पर रहे। उसके पढ़ने के लिये ज़बरदस्ती न की जाय। जो जिस प्रांत का वासी है, उसकी आरंभिक शिक्षा तो उसी प्रांत की भाषा में हो; पर साधारण शिक्षा हिंदी में, क्योंकि यह राष्ट्रभाषा सिद्ध हो चुकी है।

हम हिंदीभाषा-भाषी हिंदुओं की आशा और भरोसा माननीय मालवीयजी के हिंदू-विश्वविद्यालय पर था। उसके हिंदी-हीन हो जाने से हिंदू हताश हो हिम्मत हार बैठे हैं❀। वहाँ अँगरेज़ी का अटल आधिपत्य अवलोकन कर सब लालसाओं पर पाला पड़ गया है। अब सम्मेलन को सचेष्ट हो सदुद्योग करना चाहिए, जिससे हिंदी में हमारी शिक्षा हो। जब तक मातृभाषा में हमारी शिक्षा न होगी, हम कदापि उन्नति न कर सकेंगे। उन्नति का मूल मंत्र, मातृभाषा में सब विषयों की शिक्षा है।

हिंदी के विषय में मेरा क्या सिद्धांत है, यह सुनाकर इसे समाप्त करता हूँ।

बानी हिंदी भाषन की महरानी;
चंद, सूर, तुलसी-से जामें, कवी भए लासानी।
दीन-मलीन कहत जो याकौं, हैं सो अति अज्ञानी,
या सम काव्य-छंद नहिं देख्यों, है दुनियाँ भर छानी।
का गिनती उरदू-बंगला की, भरै अँगरेजिहु पानी;
आजहुँ याकौं सब जग बोलत, गोरे तुरुक जपानी
है भारत की भाषा निहचय, हिंदी हिंदुस्थानी;
"जगन्नाथ" हिंदी-भाषा को, है सेवक अभिमानी

—

❀ अब वहाँ एम. ए. तक हिंदी करदी गई है। संपादक

सिंहावलोकन

अर्थात्

गत आठ वर्षों के हिंदी-साहित्य-संसार की समालोचना*

(पूर्वार्द्ध)

इस सिंहावलोकन का काम किसी महावीरसिंह को दिया जाता, तो अधिक उपयुक्त होता। पर न जाने क्यों, यह काम मुझे दिया गया है। सिंहावलोकन तो क्या, मैं बंदरघुड़की भी नहीं जानता। ख़ैर, जब पंचों की यही राय हुई, तो मैं सिंह का रूप धरकर हिंदीसाहित्य संसार का गत आठ वर्षों का अवलोकन करता हूँ। पर देखना, सिंह के तर्जन-गर्जन और लाल-लाल नेत्र देख गालियों की गोलियाँ न चला बैठना।

बाहरी अवस्था

गत आठ वर्षों के हिंदीसाहित्य-संसार की ओर देखता हूँ तो पहले उसकी बाहरी अवस्था पर दृष्टि पड़ती है। यह अच्छी है; हिंदी का प्रचार दिनोंदिन बढ़ता जा रहा है। प्रत्येक प्रांत के लोग इसे राष्ट्रभाषा स्वीकार करते जाते हैं

बंगाल

पहले मैं बंगाल की ही बात बताता हूँ। इसके पूर्व बंगाली हिंदी को हीन समझते थे; पर अब वह बात धीरे-धीरे कम होती जाती

---

* इंदौर के अष्टम हिंदी-साहित्य-सम्मेलन में पढ़ा गया। (संवत् १९७४)

है। "वंदे मातरम्" बनानेवाले बंकिमचंद्र, पुरातत्ववेत्ता राजेंद्रलाल और इतिहास-लेखक रमेशचंद्र की बात मैं नहीं कहता। वे लोग तो इसके तरफ़दार थे ही। मैं आजकल के बंगालियों की बाबत कह रहा हूँ। अब वे भी हिंदी की चर्चा करने लग गए हैं। स्वर्गवासी बाबू रसिकलाल राय 'भारतवर्ष'-नामक बँगला मासिक-पत्र में प्रायः हिंदी के विषय में कुछ-न-कुछ लिखा करते थे। उन्होंने तृतीय हिंदी-साहित्यसम्मेलन के सभापति की वक्तृता का उल्था उसमें छापा था। पंडित सत्यचरण शास्त्री ने अभी हाल में कविवर भूषण पर वंगीय साहित्य-सभा में एक प्रबंध का पाठ किया था, जिसे सुनकर माननीय श्रीयुत भूपेंद्रनाथ वसु ने बंगालियों को हिंदी सीखने की सलाह दी थी। अभी कांग्रेस के समय कलकत्ते में जो राष्ट्रभाषा-सम्मेलन हुआ था, उसमें सब प्रांतों के लोगों का अच्छा जमाव था। सबने एक स्वर से भारत के भाल की बिंदी इस हिंदी को ही राष्ट्रभाषा स्वीकार किया। बंगाल के श्रीयुत राय यतींद्रनाथ चौधरी एम० ए०, बी० एल० इसके मंत्री हैं, और हिंदी को ही राष्ट्रभाषा के उपयुक्त मानते हैं। "नायक"-संपादक पंडित पाँचकौड़ी वंद्योपाध्याय, प्राच्यविद्यामहार्णव श्रीयुत नगेंद्रनाथ वसु, कविराज ज्योतिर्मय सेन और राय बहादुर यदुनाथ मजुमदार हिंदी-हितैषी हैं। पंडितों में महामहोपाध्याय पं० प्रमथनाथ तर्कभूषण हिंदी के अनुरागी ही नहीं, उसके ज्ञाता भी हैं। वह सूरसागर पढ़ते और सदा हिंदी के पक्ष में ही सम्मति देते हैं।

मद्रास

मद्रास ने भी हिंदी को अपनाया है। स्वर्गवासी वेंकट कृष्ण-स्वामी अय्यर हिंदी को राष्ट्र-भाषा मान चुके हैं। उक्त राष्ट्र भाषा-

सम्मेलन में श्रीयुत एन० सी० श्रीनिवासाचार्य, एम० कृष्णमाचार्य और हिंदुस्थान की "वुलवुल" श्रीमती सरोजिनी नायडू ने राष्ट्र-भाषा के सिंहासन पर हिंदी को ही विठाया था।

वंबई

वंबई-प्रांत तो हिंदी को वहुत दिनों से राष्ट्र-भाषा मान चुका है। बड़ौदे की हिंदी-परिषद् के सभापति वंबईनिवासी सुप्रसिद्ध विद्वान् डाक्टर सर भंडारकर ने अपने भाषण में कहा था—

"The honour of being made the Common Language for inter-communication between Various Provinces must be given to Hindi. There does not seem to be much difficulty to make Hindi accepted by all throughout India".

अर्थात्, भारत के भिन्न-भिन्न प्रांतों की आपस में वातचीत करने के लिये साधारण भाषा होने का गौरव हिंदी को अवश्य ही मिलना चाहिए। भारतवर्ष में सर्वत्र हिंदी का प्रचार करने में मुझे अधिक कठिनाई दिखलाई नहीं देती।

ग्वालियर के भूतपूर्व न्यायाधीश (चीफ जस्टिस) राव वहादुर चिंतामणि विनायक वैद्य एम० ए० एल्‌ एल० वी० ने कहा है—

"Hindi is from every point of View by far the most suitable language to be selected as the lingua franca of India."

अर्थात् हिंदी ही सब प्रकार से भारत की राष्ट्रभाषा होने के योग्य है। इनके अतिरिक्त भारत के भाल के तिलक

लोकमान्य श्री पं० बालगंगाधर तिलक महाराज ने श्रीमुख से हिंदी को राष्ट्रभाषा का पद प्रदान किया है। कलकत्ते के राष्ट्रभाषा सम्मेलन के सभापति होकर आपने जो सारगर्भ वक्तृता दी थी, वह मनन करने योग्य है। आप केवल व्याख्यान देकर ही नहीं रह गए, बल्कि आपने अपने "मराठा" और "केसरी" पत्रों में हिंदी को स्थान भी दिया है। उनका एक एक कालम हिंदी में रहता है। उनके "मराठा" पत्र ने तो श्रीमती एनी बिसेंट से "निउ इंडिया" में हिंदी को स्थान देने के लिए अनुरोध भी किया है।

गुजरात

गुजरात-प्रांत ने हिंदी के लिये जो किया है, वह किसी ने नहीं किया है। मैं स्वामी दयानंद सरस्वतीजी की बात नहीं कहता, जिन्होंने 'सत्यार्थ-प्रकाश' हिंदी में रचकर उसके प्रचार का द्वार खोल दिया है; क्योंकि यह ८ वर्ष पहले की बात है। मैं श्रीमान् कर्मवीर मोहनदास कर्मचंद गाँधीजी का शुभ नाम ले रहा हूँ, जिन्होंने आज हमारे सम्मेलन की शोभा बढ़ा सभापति का आसन ग्रहण किया है। श्रीमान् गाँधीजी की कृपा से ही कांग्रेस में हिंदी की तूती बोलने लगी है। लोगों के लाख कहने पर भी श्रीमान् अँगरेज़ी में न बोलकर हिंदी में ही बोले थे। श्रीमान् ने ही लोकमान्य तिलक महाराज का ध्यान हिंदी की ओर आकर्षित किया था। फल यह हुआ कि लोकमान्य ने भी स्वराज्य का व्याख्यान हिंदी में दिया, और 'मराठा' तथा 'केसरी' के कालमों में हिंदी का स्थान मिला। गुजरात-प्रांतीय साहित्य-परिषद ने श्रीमान् गाँधी जी की अध्यक्षता में हिंदी को राष्ट्रभाषा माना, और अब उसका प्रचार

करना ठाना है। सब कोई कर्मवीर गाँधीजी की तरह हिंदी में बोलने लग जायँ, तो सहज हो हिंदी का प्रचार सर्वव्यापी हो जाय।

सिंध और पंजाब

आर्यसमाज और सनातनधर्म-सभा के प्रभाव से सिंध और पंजाब में भी हिंदी का प्रचार होता जाता है; पर अभो जैसा चाहिए, वैसा नहीं है। इस समय जितना है, वही बहुत है।

युक्तप्रांत और बिहार

युक्तप्रांत और बिहार हिंदीभाषी प्रदेश हैं; पर दुःख है वे राह भूलकर भटक गए। अब उन्हें अपनी भूल मालूम हो गई है। वे राह पर आ रहे हैं। भविष्य अच्छा दिखलाई दे रहा है।

अदालत

अदालतों में नागरी का तो कुछ-कुछ प्रवेश हुआ है; पर हिंदी भाषा का बिल्कुल नहीं। इसके लिये विशेष उद्योग होना चाहिए।

रजवाड़े

रजवाड़ों में भी हिंदो की घुसपैठ होती जातो है। बड़ौदा, ग्वालियर, अलवर, बीकानेर, और रोवाँ आदि के नरेशों ने राष्ट्र-भाषा हिंदी का आदर कर दूरदर्शिता का काम किया है। श्रीमान् इंदौर-नरेश के हिंदी-प्रेम के कारण ही आज हम लोग यहाँ एकत्र हुए, और यह समारोह देख रहे हैं। श्रीमान् हिंदी के लिये प्रतिवर्ष जो उदारता दिखाते हैं, वह अन्यान्य नृपतिगण के लिये अनुकरणीय है।

मुसलमान

कलकत्ता-हाइकोर्ट के भूतपूर्व जज मिस्टर हसनइमाम-जैसे मुसलमान भी हिंदी के हिमायती हैं। मध्यप्रदेश के मौलवी सैयद

अमीर अली 'मीर' हिंदी के प्रेमी ही नहीं, लेखक और कवि भी हैं। बेतिया के मुहम्मद पीर मूनिस, और मुजफ्फरपुर के मियाँ लतीफ़ हुसेन भी हिंदी लिखते-पढ़ते हैं।

सिविलियन

विहार-प्रांत के पटने के कमिश्नर मि० सी० ई० ए० डवल्यु-ओलधम हिंदी के बड़े हितैषी हैं। आरा-नागरीप्रचारिणी-सभा के उद्योग और आपकी कृपा से अदालत के कागज-पत्र कैथी के बदले अब नागरी में छपने लगे हैं।

विरोधी

हिंदी के हिमायती ही हैं, विरोधी नहीं, ऐसा नहीं है। विरोधी भी हैं, और वे हिंदुस्थान के निवासी तथा हिंदू हैं; पर नगण्य हैं। इंदौर का मराठी "मल्लारिमार्तण्ड" प्रचंडता के साथ हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाने का विरोध कर रहा है। उसके कथन का सार यही है कि हिंदी-भाषा दीन, हीन एवं नवीन है, और उस का साहित्य भी समीचीन नहीं। वह कई "बाज़ुओं" से हिंदी को राष्ट्रभाषा के अनुपयुक्त सिद्ध करने का प्रयत्न कर रहा है। आनंद की बात यह है कि दैनिक "भारतमित्र" युक्तियुक्त मुँहतोड़ उत्तर देकर इसके बाज़ू तोड़ता जाता है। इसलिये इस विषय में कुछ विशेष कहने की मुझे आवश्यकता नहीं। पर इतना अवश्य कहूँगा कि हिंदी को कोई राष्ट्रभाषा नहीं बनाता है; वह अपने गुणों से स्वयं बन गई और बनती चली जा रही है। उसे कोई राष्ट्रभाषा चाहे न माने; पर वह राष्ट्रभाषा का काम कर रही है। मैं हिंदी-भाषा-भाषी हूँ, इसलिये यह कह रहा हूँ, ऐसा मत समझिए। जिनका हिंदी से कोई संबंध नहीं, वे भी यही बात कहते हैं। सात समुद्र

पार रहनेवाली परम विदुषी श्रीमती एनीविसेंट अपने "नेशनबिल्डिंग"-नामक पुस्तक में कहती हैं —

"Among the Various Vernaculars that are spoken in the different parts of India, there is one that stands out strongly from the rest, as that which is most widely known. It is Hindi. A man who knows Hindi can travel over India and find every where Hindi speaking people. In the north it is the vernacular of a large part of the population and a large additional part, who do not speak Hindi, speak language so closely allied to it that Hindi is acquired without diffiulty."

अर्थात्, भारत की जितनी प्रांतीय भाषाएँ हैं, उनमें हिंदी के ही समझनेवाले अधिक हैं। हिंदी जाननेवाला भारत के एक छोर से दूसरे छोर तक चला जाय, उसे सब जगह हिंदी बोलनेवाले मिलेंगे। उत्तरीय भारत में हिंदी बोलनेवाले अधिक हैं। जो हिंदी नहीं बोलते, वे हिंदी से मिलती-जुलती भाषा बोलते हैं, जिससे उन्हें हिंदी सीखने में कोई कठिनाई नहीं होती।

बात भी यही है। देशी ही नहीं, विदेशी भी सहज ही हिंदी सीख कर बातचीत करने लग जाते हैं। हलक से बोलनेवाले अरब, और चीं-चीं करनेवाले चीनी यहाँ आकर किस भाषा में मन के भाव प्रकट करते हैं ? जो अँगरेज़ी नहीं जानते, वे हिंदी से ही काम चलाते हैं। योरप-निवासी हिंदुस्थान आकर बावर्ची खानसामों से किस भाषा में बोलते हैं ? हिंदी में। सेतुबंध रामेश्वर, द्वारक

वदरिकाश्रम और जगन्नाथपुरी के पंडे अन्य प्रांतों के यात्रियों से हिंदी में ही बातचीत करते हैं। फिर हिंदी राष्ट्रभाषा नहीं, तो और कौन-सी राष्ट्रभाषा है ? यह मेरी ही नहीं, भारत के सुपुत्र स्वर्गवासी रमेशचंद्र दत्त की भी यही सम्मति है। बड़ोदे की "हिंदी-परिषद" में उन्होंने कहा था—"If there is a language which will be accepted in a larger part of India, it is Hindi."

अर्थात्, भारत के अधिकांश भाग में यदि कोई भाषा स्वीकृत हो सकेगी, तो वह हिंदी ही है।

बाक़ी रही दीन-हीन साहित्य की बात। उसके विषय में अपनी ओर से कुछ न कह पुरातत्ववेत्ता परलोकवासी डाक्टर राजेंद्रलाल मित्र LL.D. सी० आई० ई० की उक्ति उद्धृत कर देता हूँ। मित्र महोदय "इण्डो एरियंस" (Indo Aryans) नाम की पुस्तक में लिखते हैं—

"The Hindi is by far the most important of all the vernacular dialects of India. It is the language of the most Civilised portion of the Hindu race. Its history is traceable for a thousand years, and its literary treasures are richer and more extensive than of any other modern Indian dialect, Telegu excepted."

तात्पर्य यह है कि भारत की भाषाओं में हिंदी बड़े ही काम की भाषा है। यह हिंदुओं में सबसे अधिक सभ्य लोगों की भाषा है। इसके इतिहास का पता हजार वर्ष तक लगता है। तेलगू भाषा को

छोड़ भारत की और सभी आधुनिक भाषाओं से इसका साहित्य-भांडार अधिक वैभवशाली और विस्तृत है। हिंदी की प्राचीनता के विषय में बंगाल के सिविलियन मिस्टर जॉन वीम्स (Mr. John Beames) अपनी पुस्तक Comparative Grammar of the modern Aryan Languages of India की भूमिका में लिखते हैं—"Hindi represents the oldest and most widely diffused form of Aryan speech in India In respect of Tadbhavas Hindi stands pre-eminent"

अर्थात्; भारतवर्ष में आर्यों की सबसे प्राचीन और प्रचलित भाषा हिंदी है। इसमें तद्भव शब्द सभी भाषाओं से अधिक हैं।

रेवरेंड केलाग (Rev. kellogg) अपने हिंदी व्याकरण की भूमिका में मराठी, गुजराती, बँगला, पंजाबी, सिंधी और उड़िया भाषाओं की चर्चा करते हुए कहते हैं—"of these in order of antiquity Hindi stands first."

अर्थात्, प्राचीनता के विचार से इनमें हिंदी ही प्रथम है।

मिस्टर एच. टी. कोलब्रूक ने (Mr. H. T. Colebrooke) 'एशियाटिक रिसर्चेज' (Asiatic Researches) के सातवें भाग में लिखा है —"On the subject of the modern dialects of upper India, I, with pleasure, refer to the works of Mr. Gilchrist, whose laboure have now made it easy to acquire the knowledge of an elegant language, which is used in every part of Hindustan and the Deccan; which is the common vehicle of colloquial intercourse among all well—

educated natives, and among the illiterate also in many provinces of India and which is almost everywhere intelligible to some among the inhabitants of every village......The same tongue, under its more appropriate denomination of Hindi, comprehends many dialects strictly local and provincial."

अभिप्राय यह कि उत्तर-भारत की वर्तमान बोली के बारे में मैं प्रसन्नता के साथ गिलक्राइस्ट साहब की पुस्तकों का उल्लेख करता हूँ। जिस बोली का व्यवहार भारत के प्रत्येक प्रांत में होता है, उसके सीखने का सहज उपाय उन्होंने परिश्रम से कर दिया है। यह पढ़े-लिखे तथा अपढ़, दोनों की साधारण बोलचाल की भाषा है, और इसे प्रत्येक ग्राम के थोड़े-बहुत लोग अवश्य समझ लेते हैं। इसका उपयुक्त नाम हिंदी है। इसमें अनेक प्रकार की स्थानीय और प्रांतीय बोलियाँ मिली हुई हैं।

कविवर लल्लूलालजी से "प्रेमसागर" नाम की प्रचलित हिंदी की प्रथम पुस्तक बनवानेवाले डाक्टर गिलक्राइस्ट (Dr. Gilchrist) कहते हैं—"The language at present best known as the Hindustanee, is also frequently denominated Hindee, Urdu and Rekhta. It is compounded of the Arabic, Persian and Sanskrit or Bhakha which last appears to have been in former ages the current language of Hindustan. याने जो भाषा आज हिंदुस्थानी के नाम से प्रसिद्ध है, वही हिंदी,

उर्दू और रेखता भी कहलाती है। इसमें अरबी, फ़ारसी, संस्कृत या भाखा के शब्द मिले हुए हैं। प्राचीन समय में यह 'भाखा' ही हिंदुस्थान की प्रचलित भाषा थी।

हिंदी को पहले लोग "भाषा" या भाखा ही कहा करते थे। इसका प्रमाण तुलसीकृत रामायण में है। यथा—

"नाना पुराण निगमागमसम्मतं यद्रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोपि स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथगाथा भाषानिबन्धमतिमंजुलमातनोति।"

फिर देखिए—

"भाखा भनिति भोरि मति मोरी;
हँसिबे जोग हँसे नहिं खोरी।"

आजकल भी संस्कृत के बहुतेरे पंडित हिंदी को "भाखा" ही कहते हैं।

सन १९०१ ई० की मनुष्य-गणना के विवरण में लिखा है—

"In themselves, without any extraneous help whatever, the dialects from which it (Hindi) is sprung are, and for five hundred years have been, capable of expressing with crystal clearness any idea which the mind of man can conceive. It has an enormous native vocabulary and a complete apparatus for the expression of abstract terms. Its old literature contains some of the highest flights of poetry and some of the most eloquent expressions of religious devotion which have found their birth in Asia. Treatises on philosophy and on rhetoric are found in it, in which

the subject is handled with all the subtlety of the great sanskritwriters and has hardly the use of a sanskrit word."

इसका सार यह है—

जिन (वैदिक) बोलियों से स्वतन्त्रता-पूर्वक किसी सहायता के विना हिंदी-भाषा बनी है, वे ५०० वर्ष से मनुष्य के सब भाव सुस्पष्ट रूप से प्रकाश करने की शक्ति रखती आई हैं। हिंदी का वृहत् शब्द भाण्डार स्वतंत्र है। कठिन-से-कठिन या दुरूह-से-दुरूह शास्त्रीय परिभाषाओं के प्रकाश करने की इस भाषा में पूरी सामग्री है। इसके पुराने साहित्य में सर्वोच्च कविता और धर्म-संबंधी ग्रंथ विद्यमान् हैं। दर्शन और अलंकार के ग्रंथ भी इसमें पाए जाते हैं। विचित्रता तो यह है कि इन कठिन विषयों पर ऐसे ग्रंथ लिखे गए हैं, जिनमें केवल हिंदी के ही शब्द व्यवहृत हुए हैं।

भला जिस भाषा में "पृथ्वीराज रायसा"-सा प्राचीन ऐतिहासिक महाकाव्य, 'सूरसागर'-सा भक्तिरस-पूर्ण काव्य, तुलसी-कृत रामायण-सा नवरस-पूर्ण महाकाव्य, 'विहारी-सतसई'-सा शृंगाररस-प्रधान कमनीय काव्य और शिवराजभूषण-सा वीररस-प्रधान काव्य ग्रंथ हैं वह कभी दीन, हीन और नवीन हो सकती है! जिस भाषा में नानक, कवीर, गुरुगोविंद, दादूदयाल, सुन्दरदास आदि महात्माओं की उपदेशमयी वाणी विद्यमान है, यदि वही दीन-हीन है, तो पीन और समीचीन कौन होगी? वेदांत, वैद्यक, सालोतर आदि के जितने ग्रंथ हिंदी में हैं, उतने और किस भाषा में हैं? संस्कृत-साहित्य का सार निकालकर हिंदी में रख दिया गया है। हाँ, एक बात का अभाव हिंदी में अवश्य है। वह है अँगरेज़ी का उच्छिष्ट।

यदि इसी से हिंदी दरिद्र हो, तो हो सकती है। पर लक्षणों से जान पड़ता है कि अब इसका भी अभाव नहीं रहेगा।

यह बात तो निर्विवाद है कि हिंदी प्राचीन और सर्वश्रेष्ठ भाषा है। पर इधर सौ वर्षके भीतर और-और प्रांतीय भाषाओं ने जैसी उन्नति की, हिंदी वैसी क्या, कुछ भी न कर सकी; क्योंकि फ़ारसी ने इसकी राह रोक दी। अन्यान्य भाषाएँ तो उन्नति के मैदान में स्वच्छंदता-पूर्वक दौड़ती चली गईं, और यह जहाँ-की-तहाँ खड़ी रह गई। इसका भी कारण है।

मिस्टर ब्लौकमेन (Mr. Blochman) बादशाही दरबार की बातों के बड़े जानकार समझे जाते हैं, और उनकी बातें "बावन तोले पाव रत्ती" मानी जाती है। उन्होंने सन् १८७१ ई० के "कलकत्ता रिविउ" (Calcutta Review) में "The Hindu Rajas under the moghuls."-शीर्षक एक लेख लिखा था। उसमें वह कहते हैं—

"Both Hindus and Mohammadans spoke the same vernacular viz Hindi or as it was then called Hindwi.

The collection of the revenue and the management of the estates were almost exclusively in the hands of the Hindus, and hence all accounts whether private or public were kept in Hindi.

They (the Dustur-ul-amals) are unanimous in affirming that from the earliest times up to

the middle of Akbar's reign, all Government accounts were kept in Hindi. (P. 317).

इससे मालूम होता है कि हिंदू और मुसलमान, दोनों ही हिंदी या हिंदवी बोलते थे, और सरकारी हिसाब-किताब हिंदी में ही रखते थे। क़ुतुबउद्दीन से लेकर अकबर के राजत्वकाल के मध्य तक अदालत और माल के कागज-पत्र हिंदी में ही रहे। पीछे दुर्भाग्य-वश टोडरमल ने माल का नया तरीक़ा चलाकर हिंदुओं को फ़ारसी पढ़ने को लाचार किया। बस, टोडरमल के समय से ही हिंदी की गति रुकने लगी। यदि ऐसा न हुआ होता, तो आज हिंदी किसीसे किसो बात में पीछे न रहती। इतने पर भी हिंदी-साहित्य का महत्व बना ही हुआ है। जिस बँगला-साहित्य को लोग आजकल बहुत उन्नत और विस्तृत समझकर उसकी दुहाई देते हैं, उसी के प्रवर्तक, सुलेखक और सुकवि वैकुंठवासी राय वंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय बहादुर अपने "वंग-दर्शन"-नामक मासिक पत्र के पाँचवें खंड में बंगालियों को संबोधन कर लिखते हैं—"इंगराजी भाषा द्वारा जाहा हउक किंतु हिंदि शिक्षा न करिले कोनों क्रमेई चलिवे ना। हिंदि भाषाय पुस्तक ओ वक्तृता द्वारा भारतेर अधिकांश स्थानेर मंगल साधन करिबेन। केवल बांगला ओ इंगराजी चर्चाय हइबेना। भारतेर अधिवासीर संख्यार सहित तुलना करिले बांगला ओ इंगराजी कय जन लोक बोलिते वा बुझिते पारेन? बांगलार न्याय ये हिंदिर उन्नति हइतेछे ना इहा देशेर दुर्भाग्येर विषय। हिंदि भाषार सहाय्ये भारतवर्षेर विभिन्न प्रदेशेर मध्ये यांहारा ऐक्य वंधन संस्थापन करिते पारिबेन तांहाराई प्रकृत भारतबंधुनामें अभिहित हइबार योग्य। सकले चेष्टा करुन, यत्न करुन, यत दिन परेई हउक मनोरथ पूर्ण हइबे।"

अर्थात्, अँगरेज़ी-भाषा से चाहे जो हो, पर हिंदी सीखे विना किसी तरह काम न चलेगा। हिंदी-भाषा में पुस्तकें लिखकर और वक्तृताएँ देकर भारत के अधिकांश स्थान का कल्याण कीजिए। केवल बँगला और अँगरेज़ी से काम न होगा। भारत के अधिवासियों में से कितने मनुष्य बँगला और अँगरेज़ी समझ या बोल सकते हैं? बँगला की तरह हिंदी की उन्नति नहीं हो रही है, यह देश का दुर्भाग्य है हिंदी-भाषा की सहायता से भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न प्रदेशों को एकता के बंधन से जो बाँध सकेंगे, वे ही सच्चे भारतबंधु कहे जाने योग्य हैं। सब कोई चेष्टा कीजिए, यत्न कीजिए; चाहे जब हो, मनोरथ पूर्ण होगा।

बंबई से निकलनेवाले "राष्ट्रमत" का भी यही मत था। उसके ता० २०-८-१९०९ के अंक में लिखा है—"Hindi is not to make encroachment on the vernacular of the province but is to be learnt as a national necessity."

अर्थात्, हिंदी किसी प्रांत की भाषा का स्थान छीनने के लिये नहीं है, बल्कि राष्ट्रीय आवश्यकता के कारण उसे सीखना चाहिए।

इन सब की राय तो यह है; पर "मल्लारिमातंड" के संपादक महाशय दूसरा ही राग अलापते हैं। वह एस्परांटो भाषा से हिंदी की तुलना कर इसे राष्ट्रभाषा के अनुपयुक्त बतलाते हैं। इसमें उनका कुछ दोष नहीं; क्योंकि—

> जाके मति भ्रम होइ खगेसा,
> सो कह पच्छिम उगहिं दिनेसा।

"मल्लारिमातंड" के विद्वान् संपादक समझते हैं, और लोगों को समझाते भी हैं कि हिंदी के राष्ट्रभाषा हो जाने से मराठी, गुजराती,

तथा बँगला आदि भाषाओं की हानि होगी; क्योंकि उनका स्थान हिंदी ले लेगी। पर यह उनकी भूल है। वह सचमुच भूलते हैं या जान बूझ-कर भूलते हैं, यह अभी नहीं कहा जा सकता; पर भूलते जरूर हैं। अगर न भूलते होते, तो ऐसी बात मुँह से न निकालते। हिंदी को राष्ट्र-भाषा बनाने का उद्देश्य यह नहीं कि वह प्रांतीय भाषाओं का स्थान ले ले और उन्हें हानि पहुँचावे। इसका उद्देश्य यही है कि सब कोई अपनी-अपनी मातृभाषा सीखें, और उसकी उन्नति करें; पर हिंदी भी सीखें, जिससे मद्रासी और पंजाबी या मराठे और बंगाली जब मिलें, तो विदेशी भाषा में न बोलकर देशी भाषा में बोलें। अपने देश में अपने भाइयों से अपनी ही भाषा में बोलने से अपनापन अधिक प्रकट होता है। हिंदी प्रांतीय भाषाओं का स्थान न ले अँगरेज़ी का लेना चाहती है, अर्थात् जो काम अँगरेज़ी से निकाला जाता है, उसे हिंदी से ही निकालना चाहिए। जब अँगरेज़ी से प्रांतीय भाषाओं की हानि नहीं हुई तो उसी स्थान पर हिंदी के पहुँच जाने से कैसे होगी? हिंदी तो उन्हें प्रांतीय स्वराज देती है। वह अपने-अपने प्रांत में फूलें-फलें और दिन-दूनी रात-चौगुनी उन्नति करें। हिंदी उसमें बाधा नहीं डालती। फिर हिंदी के राष्ट्रभाषा होने से प्रांतीय भाषाओं की कैसी हानि होगी, यह "मल्लारिमार्तंड" के प्रचंड संपादक ही जानें। मालूम होता है, ऐसे ही लोगों को राह पर लाने के लिये प्रसिद्ध विद्वान् और देशभक्त श्रीयुत अरविंद घोष ने अपने "धर्म"-नामक साप्ताहिक पत्र में लिखा था—"भाषारभेदे आर बाधा हइबेना, सकले स्व स्व मातृभाषा रक्षा करिया ओ साधारण भाषारूपे हिंदि भाषा के ग्रहण करिया सेई अंतराय विनष्ट करिब।" अर्थात्, भाषा-भेद के कारण और अड़चल

न होगी। हम लोग अपनी-अपनी मातृ-भाषा की रक्षा करते हुए साधारण भाषा की भाँति हिंदी भाषा ग्रहण कर यह भेद-भाव नष्ट कर डालेंगे।

मैं समझता हूँ, इस युक्ति से संपादक महाशय का भारी भ्रम भग जायगा।

संपादक महाशय को भय है कि हिंदी के लिये आन्दोलन करने से मुसलमान विरोध करेंगे। फिर मेल के बदले हिंदू-मुसलमानों में बिगाड़ हो जायगा। इसलिये हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाने का उद्योग न करना चाहिए। यह बात बिलकुल फ़ालतू है; क्योंकि हम उर्दू का विरोध नहीं करते, और न उर्दू को कोई स्वतंत्र भाषा ही मानते हैं। यह तो हिंदी का रूपांतर-मात्र है। उर्दू में से हिंदी की क्रियाएँ और सर्वनाम निकाल लिये जाँय, तो वहाँ क्या रह जायगा। उर्दू हिंदी के बिना जी नहीं सकती, और न हिंदी उर्दू को छोड़ सकती है। हिंदी-उर्दू के बारे में मि० बीम्स (Mr. Beames) क्या कहते हैं, वह भी सुन लीजिए—

"The grammar of Urdu is unmistakably the same as that of Hindi, and it must follow therefore that the Urdu is a Hindi and an Aryan dialect."

याने, उर्दू-हिंदी का व्याकरण एक ही है। इससे उर्दू हिंदी है, और आर्य भाषा है।

उर्दू-फ़ारसी के आलिम, "भारतमित्र" के भूतपूर्व संपादक बाबू बालमुकुंद गुप्त 'हिंदी-भाषा' नाम की पुस्तिका में लिखते हैं—

"वर्तमान् हिंदी-भाषा की जन्मभूमि दिल्ली है। वहीं व्रजभाषा से वह उत्पन्न हुई, और वहीं उसका नाम हिंदी रक्खा गया। आरंभ में उसका नाम रेख़्त पड़ा था। बहुत दिनों तक यही नाम रहा। पीछे हिंदी कहलाई। कुछ और पीछे इसका नाम उर्दू हुआ; अब फ़ारसी वेष में अपना उर्दू नाम ज्यों-का-त्यों बनाए रखकर देवनागरी-वस्त्रों में हिंदी-भाषा कहलाती है। इस समय हिंदी के दो रूप हैं—एक उर्दू, दूसरा हिंदी। दोनों में केवल शब्दों ही का भेद नहीं, लिपि-भेद बड़ा भारी पड़ा हुआ है। यदि यह भेद न होता, तो दोनों रूप मिलकर एक हो जाते। यदि आदि से फ़ारसी-लिपि के स्थान में देवनागरी रहती, तो यह भेद ही न होता। अब भी लिपि एकहोने से भेद मिट सकता है।"

हमारे मुसलमान भाई इनकी बात पर चाहे ध्यान न दें, पर शमशुलउलेमा मौलवी सैयद हुसेन बिलग्रामी की बात पर ज़रूर ध्यान देंगे, क्योंकि यह उनके जाति-भाई हैं। जनाब बिलग्रामी साहब "La Civilizatione Des Arabes"- नामक पुस्तक के अनुवाद की उपक्रमणिका में लिखते हैं—

"It is a well-known fact that the Urdu belongs to the family of language known as the Aryan. + + +

Thus the Hindi ground-work of the Urdu language has come from one or more of these Prakrits, only a few of the words having been taken direct from sanskrit. ++++ My chief object in entering on this discussion is to prove

that while it is our duty to prevent any large importations of foreign words into the Urdu language, it is also our duty to devisemeans for lightening the labour and diifficulty of reading the Urdu character"

अर्थात्, यह बात सबको भली भाँति मालूम है कि उर्दू आर्य-भाषाओं से बनी है × × × इस प्रकार उर्दू की जड़ में हिंदी भाषा का जितना अंश है, वह इन्हीं प्राकृत भाषाओं में किसी एक या अनेक से निकली है। हाँ, केवल कुछ शब्द सीधे संस्कृत से भी लिए गए हैं। × × × इस विषय के विचार में प्रवृत्त होने का मेरा मुख्य उद्देश्य यही सिद्ध करना है कि उर्दू-जबान में विदेशी शब्दों को अधिकता के साथ मिलने न देना हमारा जैसे कर्तव्य है, वैसे ही उर्दू-हुरूफ़ पढ़ने में जो परिश्रम और कठिनाई पड़ती है, उसके घटाने के लिए उपाय निकालना भी हमारा कर्तव्य है।

कलकत्ते की हिंदीसाहित्य-परिषद् के वार्षिकोत्सव पर कलकत्ता हाईकोर्ट के भूतपूर्व जज जनाब सैयद हसन इमाम साहब ने मीर-मजलिस की हैसियत से जो वक्तृता दी थी, वह भी सुन लीजिए। आप फ़रमाते हैं—"कुछ लोगों ने हिंदी-उर्दू का झगड़ा खड़ाकर रक्खा है; पर यह बेफ़ायदा है। मेरी राय से हिंदी हिंदुओं ही की नहीं, बल्कि सारे हिंदुस्थान की जबान है। अरबवाले यहाँ के मुसलमानों को हिंदी ही कहते हैं। फिर हिंदी की तरक्की के लिये कुछ किया जाय, तो मुसलमानों की नाराज़गी की कोई वजह नहीं देखता। और ज़बानें एक-एक सूबे की हैं, पर हिंदी हिंदुस्थान की ज़बान है। उर्दू भी यहीं बनी है। मुसलमान उसे अरब से नहीं लाए।

इसलिये मुसलमानों को हिंदी से नफ़रत न करनी चाहिए, बल्कि हिंदुओं से मिलकर उसकी तरक्की करनी चाहिए।"

मैं समझता हूँ, "मल्लारिमार्तंड" के संपादक के दिल में मुसलमानों के हिंदी-विरोध का डर अब घर न करेगा। और, मुसलमान भाई भी उर्दू-हुरूफ़ के बदले नागरी-अक्षरों से काम लेने लग जायँ, तो लिखने-पढ़ने में सुबीता हो, तथा हिंदी-उर्दू का बखेड़ा भी मिट जाय। सबसे बड़ी बात तो यह होगी कि हिंदी-उर्दू के विरोधियों को वैर-विरोध बढ़ाने का फिर बहाना ही न मिलेगा।

अच्छा, अब फिर अवलोकन आरंभ होता है।

पत्र-पत्रिकाएँ

इधर आठ वर्षों में मासिक, पाक्षिक, साप्ताहिक और दैनिक पत्र-पत्रिकाओं की ख़ूब ही उन्नति हुई। सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, सांप्रदायिक, जातीय, राष्ट्रीय तथा शिक्षा, कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य और शिल्प-संबंधी पत्र निकलते हैं।

पुरुषों के, स्त्रियों के तथा बालकों और बालिकाओं के अलग-अलग पत्र हैं, दुःख है, बुड्ढों के लिये अभी कुछ नहीं निकला। गत आठ वर्षों के भीतर ही हिंदी के कई दैनिक पत्र निकले, जिनमें चार तो सुचारु रूप से चल रहे हैं। बाक़ी कालकवलित हो गए। इन चार दैनिकों में तीन तो हमारे कलकत्ते से ही निकलते हैं, और एक बंबई से। कलकत्ते से एक पद्यमय पत्र भी प्रकाशित होने लगा है जो साप्ताहिक की श्रेणी में सुशोभित है।

यहाँ की बात जाने दीजिए, दक्षिण आफ़्रिका से भी दो हिंदी-पत्र निकलते हैं—एक का नाम "धर्मवीर", और दूसरे का शायद "हिंदुस्थानी" है।

पुस्तक

विविध विषयों की पुस्तकें भी धड़ाधड़ निकलती जाती हैं। निकलती ही नहीं, उनका प्रचार भी बढ़ता जाता है। पहले पुस्तकों की छपाई और काग़ज़ रद्दी होते थे; पर अब तो उनकी छपाई, सफ़ाई, बँधाई, कटाई, मँजाई और काग़ज़ की चिकनाई की बड़ाई किए बिना नहीं रहा जाता। पुस्तक-प्रकाशन में इधर अच्छी उन्नति हुई।

अलंकृत

पंडित गौरीशंकर भट्ट ने देवनागरी-लिपि को अलंकृत करने की कला का पुनरुद्धार किया है। बेलबूटेदार, टेढ़े-मेढ़े अनेक प्रकार के अक्षर उन्होंने बनाए हैं, जिनके द्वारा अक्षरों से फूल-पत्ते, और फूल-पत्तों से अक्षर बन जाते हैं। इससे देवनागरी-लिपि का बहुत-कुछ महत्व बढ़ गया है।

नाटक मंडली

कलकत्ता, आरा, काशी, प्रयाग, भरतपुर, खंडवा आदि नगरों में नाटक-मंडलियाँ स्थापित हो गई हैं, जिनमें शुद्ध हिंदी के नाटक उत्तमता से खेले जाते हैं। ये मंडलियाँ पैसे पैदा करने के लिये नहीं, बल्कि हिंदी-साहित्य का प्रचार करने के लिये अभिनय करती हैं।

सभा-समिति

सभा-समितियों का बाज़ार भी खूब गरम है। जहाँ देखो, वहीं हिंदी का पुस्तकालय, वाचनालय, सभा, समिति, परिषद् और मंडल स्थापित हो रहे हैं। सभी का लक्ष्य हिंदी का प्रचार और उसके साहित्य की उन्नति है।

हिंदी-साहित्य-सम्मेलन

अखिल भारतवर्षीय हिंदी-साहित्यसम्मेलन वंग, विहार, युक्त-प्रांत तथा मध्यप्रदेश से विजय-वैजयंती उड़ाता यहाँ मध्यभारत में आ पहुँचा है। आशा है, यहाँ से राजस्थान में अपना राज-स्थापन करता हुआ पंजाब पार कर काश्मीर पर कब्ज़ा करेगा।

इधर प्रांतीय सम्मेलन का अधिवेशन आरंभ हो गया और उधर "दक्षिणआफ्रिका-हिंदीसाहित्य-सम्मेलन" के समारोह का समाचार भी आ पहुँचा है।

विविध

गत आठ वर्षों में दो बातें बड़े मार्के की हो गईं, जिन पर विशेष रूप से ध्यान देना चाहिए। एक तो हिंदी-साहित्यसेवियों के समीप श्रीभारतधर्म महामंडल के कमंडल से उपाधियों का बंडल पहुँचना, और दूसरी नए नोटों पर से नागरी का निकाला जाना!

हिंदू-विश्वविद्यालय को बनते देख हिंदुओं को हिम्मत हुई थी; पर उसे हिंदी-हीन होते देख वह हताश हो गए। हिंदू हठयोग का प्रयोग करें, तो शायद माननीय मालवीयजी महाराज के मान जाने से अभिलाषा पूर्ण होने की पूरी आशा है।

इन बातों के देखने से हिंदीसाहित्य-संसार की बाहरी दशा संतोषजनक प्रतीत होती है।

भीतरी दशा

इसके बाद भीतरी दशा पर दृष्टि जाती है। इसे देखते ही आँखें लाल हो आती हैं, क्रोध से शरीर काँपने लगता है। जी यही

चाहता है कि हिंदी-साहित्य के संहार करने वालों के सिर पंजे से गंजे कर दिए जाँय, पर मसोस कर रह जाना पड़ता है, क्योंकि सिंह को केवल अवलोकन करने का ही अधिकार मिला है, और कुछ करने का नहीं। इसलिये अवलोकन ही करता हूँ। बाहरी दशा जैसी अच्छी है, भीतरी दशा वैसी ही बुरी। यहाँ ईर्ष्या-द्वेष, हठ-दुराग्रह और पक्षपात के कारण लोग अपनी-अपनी खिचड़ी अलग पका रहे हैं। कोई तीर-घाट जाता है, तो कोई मीर-घाट। कोई व्याकरण का बहिष्कार करता है, तो कोई कोष का कायाकल्प। कोई हिंदी की चिंदी निकालता है, तो कोई काव्य कलेवर को कलुषित करता है। कोई वर्ण-विन्यास का विपयय करता है, तो कोई शैली का सत्यानाश करता है। उल्था करने में भी उलट-पलट का चर्खा चलता है। बंगाल की बू, मराठी की महक और गुजराती की गंध से हिंदी के होशहवास गुम हैं। अँगरेज़ी के अंधड़ ने तो और भी आफ़त ढाई है। मुहावरों का मूंड़ इस तरह मूड़ा जाता है कि उन्हें मुँह दिखाने का मौका नहीं है। नाटक का फाटक बंद है; पर उपन्यास का उपद्रव बढ़ रहा है। कोई हिंदी में बिंदी लगाता है, तो कोई विभक्ति का विच्छेद करता है। कोई खड़ी बोली खड़ी करता है, और कोई व्रजभाषा का नामोनिशान मिटाने का सामान जी-जान से करता है। कोई संस्कृत के शब्दों की सरिता बहाता है, और कोई ठेठ हिंदी का ठाठ बनाता है। मतलब यह कि सभी अपनी-अपनी धुन में लगे हैं। कोई किसी की नहीं सुनता। नाई की बरात में सभी ठाकुर हैं। ऐसी अवस्था में यहाँ का अवलोकन विशेषरूप से करना कर्तव्य है। इसलिये अब वही करता हूँ।

पद्य

साहित्य के दो विभाग हैं—गद्य और पद्य। गद्य की ओर गमन न कर पहले पद्य की ओर ही प्रस्थान करता हूँ। पद्य आजकल हिंदी-भाषा के तीन रूपों में लिखे जाते हैं—व्रजभाषा, खड़ी बोली और उर्दू।

खड़ी बोली और उर्दू में अंतर यही है कि पहली में संस्कृत और हिंदी के शब्द रहते हैं, और दूसरी में अरबी-फ़ारसी के। इन दोनों की गढ़न एक ही है, इसलिये इन्हें एक ओर रखता हूँ। व्रजभाषा की चाल निराली है। इससे उसे दूसरी ओर रखता हूँ। खड़ी बोली और व्रजभाषा में खूब चोचें चल रही हैं। खड़ीबोली-वाले कहते हैं व्रजभाषा मृत भाषा है। इसके समझनेवाले नहीं हैं, इसमें कविता न होनी चाहिए; गद्य-पद्य की भाषा दो न होकर एक ही हो, तो अच्छा। इससे लाभ यह होगा कि हिंदी सीखने-वालों को दो भाषाएँ न सीखकर एक ही सीखनी पड़ेगी। इसके सिवा व्रजभाषा में केवल शृंगाररस की कविताएँ हैं, जो अश्लीलता से परिपूर्ण हैं। भाषा भी ऐसी क्लिष्ट और जटिल होती है कि समझ में नहीं आती। शब्दों को जैसा चाहा, तोड़ा-मरोड़ा। कविताओं में भाव-सौंदर्य कुछ नहीं, केवल वही शब्दाडंबर और रसाभास। नख-सिख वर्णन और नायिकाभेद के सिवा वहाँ न उपदेश है, न आदर्श हैं, और न सामाजिक सहानुभूति है। देशदशा-वर्णन, स्वाभाविक वर्णन और राष्ट्रभाव का तो नामतक उसमें नहीं है। इन बातों के प्रमाण में नीचे लिखे कवित्त हैं। पहला कवित्त यों है—

"तमतोम-तामस-तमोगुन-सी तोयद-सी,
गौतम जटानपाटी जटा प्रजटी-सी है;

पजनेस कंदरप दीपक-सिखा-सो चारु;
हाटक-फटिक-ओप घटक पटी-सी है।
कचकुच दुबिच विचित्राकृत वक्रवेप,
छूटी लटपटी कटि-तट लपटी-सी है;
विरह अशुभ पच्छ तीतन प्रदोप पाय,
पन्नगी पिनाकी पद पूजि पलटी-सी है।"

अब ऋतु-वर्णन सुनिए—

"कूलन में, केलि में, कछारन में, कुंजन में,
क्यारिन में, कलिन-कलीन किलकंत है;
कहै पदमाकर परागन में, पातहू में,
पानन में, पीक में, पलासन पगंत है।
द्वार में, दिसान में, दुनी में, देस-देसन में,
देखो दीप-दीपन में दीपत दिगंत है।
बीथिन में, ब्रज में, नवेलिन में, बेलिन में,
बनन में, बागन में बगरो वसंत है।"

इसमें वसंत वर्णन तो नहीं, बकार की बहार बेशक है। अब पावस की प्रशंसा में पजनेसजी की प्रतिभा भी प्रत्यक्ष कर लीजिए—

"पजनेस झंझा झाँझ झोकत झपाक झंप,
झूरा झूर झरनि झिरेंगे झुरवान में।
ककुभ करिंद ह्वै हैं बधिर गराजन तें,
तीछन तरा पै कोटि-कोटिन कुवान में।
आवत अघात घिरि धीर धमधुंधाधुंध,
धाराधर अधर धराधर धुवान में।

भूर धुंध धूँधर धुधात धूम धुंधरित,
धुँधर सुधुँधरित धुनि धुरवान में।"

कहिए, क्या समझे?

यह ब्रजभाषा के लब्धप्रतिष्ठ कवियों की कविता है। इसका समझना सहज नहीं। पूर्व जन्म के पुण्य उदय हों, तो यह समझ में आ सकती है, अन्यथा नहीं। शब्दाडंबर के सिवा इसमें क्या गुण है, सो भगवान ही जाने। वीररस की कविता है सही, पर उसकी भाषा बनावटी है, और कानों को कोंचनेवाली परुष पदावली उसमें अधिक है, जिससे हृदय उत्तेजित नहीं होता।

तुपक्कैं तड़क्कैं धड़क्कैं महा हैं;
प्रलैचिल्लिका-सी भड़क्कैं जहाँ हैं।
खड़क्कैं खरी वैरि छाती भड़क्कै;
सड़क्कैं गए सिंधु मज्जै गड़क्कैं।"

भला इसमें बाह्याडंबर और घटाटोप कृत्रिमता के अतिरिक्त और क्या है? राष्ट्रीयता और व्यापकता के लिहाज से बोलचाल की भाषा में कविता लिखना विशेष उपयोगी है। खुशी की बात है कि इसका प्रचार दिनोंदिन बढ़ रहा है, और इसके विरोधियों की संख्या घट रही है। जो लोग खड़ीबोली को कविता के योग्य नहीं समझते, और पुरानी भाषा में ही—जिसे खड़ी बोलीवाले चाहें, तो पड़ी बोली कह सकते हैं—कविता किए जाने का आग्रह करते हैं, वे सच पूछिए, तो हमारी राष्ट्रभाषा के जानी दुश्मन हैं।

इतना ही नहीं, खड़ी बोली के खरे आचार्य यह भी कहते हैं कि हमारी भाषा में कुछ दिनों से बेतुकी कविता भी होने लगी है।

जब दूसरी भाषाओं में ऐसी कविता हो चुकी है, और होती है, तो कोई कारण नहीं, कि हिंदी में न हो सके। अनुप्रास मिलाने में कभी-कभी भाव को अवश्य हानि पहुँचती है, और कविता के लिये भाव ही मुख्य वस्तु है। तुकहीन कविता यदि कानों को खटके तो उसे कानों का ही विकार समझना चाहिए। इत्यादि।

अब ब्रजभाषावाले क्या कहते हैं, वह भी सुन लीजिए—उनका कहना है कि ब्रजभाषा मातृभाषा नहीं; क्योंकि यह आज भी आगरा-मथुरा आदि जिलों में बोली जाती है, और इसके बोलनेवालों की संख्या लाखों के ऊपर है। मृत भाषा तो वह है, जो कहीं न बोली जाती हो। यह तो बोली जाती है, इसलिये ज़िंदा ज़बान है।

अगर सच पूछो, तो यह खड़ी बोली कहीं की बोली नहीं; क्योंकि जितनी बोलियाँ या भाषाएँ हैं, उनका संबंध किसी-न-किसी देश, प्रांत या मनुष्य से है, जैसे नेपाल की नेपाली, पंजाब की पंजाबी, गुजरात की गुजराती, मराठों की मराठी, बंगाल की बँगला, अँगरेज़ों की अँगरेज़ी, हिंदुस्थान की हिंदुस्थानी और हिंद की हिंदी। खड़ी बोली या उर्दू किस की और कहाँ की बोली है ? न खड़ा या उर्दू कोई देश है, और न कोई मनुष्य। फिर यह आई कहाँ से ? उर्दू तो भला छावनी में जाकर पनाह ले सकती है; पर खड़ी बोली कहाँ जाकर खड़ी होगी ? ब्रजभाषा वास्तव में जीती-जागती भाषा है, जो ब्रजभूमि और उसके आसपास बोली जाती है ! इसीमें कविता होनी चाहिए। इसके समझनेवाले बहुत हैं।

"हम कौन थे, क्या हो गए हैं, और क्या होंगे अभी;
आओ, विचारें आज मिलकर ये समस्याएँ सभी।"

जो यह समझ लेगा, वह

"भरित नेह नवनीर नित, बरसत सुरस अथोर;
जयति अपूरब घन कोऊ, लखि नाचत मनमोर ।"

भी समझ सकेगा। इसलिये न समझनेवाली बात नासमझों की है। गद्यपद्य की भाषा सदा से दो होती आई हैं, और सदा होंगी। इन दोनों में सदा से अंतर रहा है, और रहेगा। अँगरेज़ी में भी यही बात है। अँगरेज़ी-कवि वर्डस्वर्थ ने गद्य-पद्य की भाषा का एकीकरण करना चाहा था, पर अपना-सा मुँह लेकर रह गया।

खड़ी बोली के कवि भी गद्य से विलक्षण भाषा में पद्य रचते हैं। यथा—

"जान जामाता बहुत वरसिंह ने रोका उन्हें;
और शीतल दृष्टि से सप्रेम अवलोका उन्हें।"

"अवलोका" गद्य में कभी नहीं आता, और न बोलचाल में। "अवलोकन किया" अवश्य आता है। जो हिंदी सीखनेवाला केवल गद्य की ही भाषा सीखेगा, वह "अवलोका" का अवलोकन कर अवश्य ही आश्चर्यान्वित हो जायगा। अतः हिंदी-साहित्य के शिक्षार्थियों को दोनों प्रकार की भाषाओं की शिक्षा लेनी पड़ेगी। केवल बोली सीखनेवाले के लिये इसकी ज़रूरत नहीं है। यह कहना सरासर अन्याय है कि ब्रजभाषा में केवल शृंगाररस की कविताएँ हैं, और अश्लील हैं। यदि ब्रजभाषा में अश्लीलता है, तो खड़ी बोली भी अश्लीलता से अछूती नहीं है। देखिए—

"आलाप दूरि, परिरंभण दूरि, अंग-
स्पर्शादि दूरि अरु दूरि निशि-प्रसंग।"❀

❀इस पद्य का अर्थ ग़लत किया गया है। संपादक

कहिए, इसमें अश्लीलता है या नहीं ? "आलाप को दूर कर सकते हैं, परिरंभण को भी दूर कर सकते हैं; पर अंगस्पर्शादि और निशि-प्रसंग को दूर नहीं कर सकते ।" यदि कोई कुमारी कन्या अंगस्पर्शादि और निशि-प्रसंग का अर्थ पूछे, तो मौन रहने के सिवा कविजी और क्या करेंगे ? यह रचना भी ऐसे-वैसे कवि की नहीं, खड़ी बोली के प्रसिद्ध आचार्य की है। अभी अश्लीलता के अनेकों उदाहरण हैं; पर सभ्य समाज के सम्मुख उनका उपस्थित करना समीचीन नहीं। अतएव यही अलम् है। अश्लीलता के अनुरागी अधीर न हों; ध्यान लगाए बैठे रहें। उनकी भी इच्छा पूरी हो जायगी।

भाषा की क्लिष्टता और जटिलता में तो खड़ी बोली बैठी ब्रजभाषा के भी कान काटती है। उदाहरण लीजिए—

"चेतोहारी सुभग नवलानारि वक्षोजरूपा,
ऊँची-ऊँची कुमुद-कलिका स्वच्छ अच्छी अनूपा ।"

एक और—

"प्रफुल्लिता, कोमल, पल्लवान्विता; मनोज्ञता-मूर्ति, नितांतरंजिता;
वनस्थली थी मकरंदमोदिता, अकीलिता कोकिल-काकलीमयी ।"

क्यों, इसमें सारल्य कूट-कूट कर भरा है न ?

अब खड़ी बोली में शब्दों की तोड़-फोड़ भी देख लीजिए—

"साहजहाँ ने सान्तिनीति को पुष्ट बनाया;
छीरफेन सम धवल सुजस छिति पर छहराया;
प्रजा पुत्र-से पाल सभी की विपति बँटाई;
करके मुझे प्रसन्न महा धन-रासि लगाई।
पुनि विरच ताजरौजा रुचिर, सब जग आचरजित किया;
रच विसद तख्तताऊस जस, गुन-ग्राहकताका लिया।"

एक और—

"किया समादर अति प्रगाढ़ भाषा कविता का,
भूषण कवि को नहीं दान देने में थाका ।"

यहाँ "आश्चर्यिता" को तोड़-मरोड़कर "आचरजित" करना आश्चर्यजनक नहीं; पर "थका" को "थाका" होते देख बुद्धि बेतरह थक जाती है। तोड़-मरोड़ के लिये ब्रजभाषा तो बदनाम थी ही, अब खड़ी बोली इसका शौक क्यों करने लगी ?

खड़ी बोली भी शब्दाडंबर से शून्य नहीं । भाव का अभाव तो बना ही रहता है। इसकी गवाही नीचे लिखी पंक्तियाँ देती हैं—

"था जहाँ पर हर्ष का आलोक उज्वल जगमगा;
अब भयंकर शोक का ताण्डव वहाँ होने लगा।
जानता था भंग होना कौन यों रस-रङ्ग का ?
ध्यान था किसको, अहो, इस शोचनीय प्रसंग का ?"

हर्ष के आलोक के बाद शोक का अंधकार होना उचित है या तांडव ? भला खड़ी बोली के 'रस-रङ्ग' 'प्रसङ्ग' को कौन "भङ्ग" कर सकता है ?

ब्रजभाषा में स्वाभाविक वर्णन, देश-दशा वर्णन और राष्ट्रीयता का जो अभाव बताते हैं, उन्हें नीचे लिखे पद्य कंठस्थ कर लेने चाहिए-

स्वाभाविक वर्णन

"नव उज्वल जल-धार हार हीरक-सी सोहति;
बिच-बिच छहरति बूंद मध्य मुक्ता मनि पोहति ।
लोल लहर लहि पवन, एक पै इक इमि आवत;
जिमि नर-गन मन विविध मनोरथ करत मिटावत ।
सुभग स्वर्ग-सोपान सरिस सबके मन भावत;

दरसन, मज्जन, पान त्रिविध भय दूर मिटावत।
श्री हरिपद-नखचंद्र-कांति-मनि द्रवित सुधारस,
ब्रह्म-कमंडल-मंडन भव-खंडन सुरसरबस।
शिव सिर मालति माल भगीरथ नृपतिपुण्यफल;
ऐरावत गज गिरिपवि हिमनग कंठहार कल।
सगर-सुअन सठ सहस परस जल-मात्र उधारन;
अगिनित-धारा-रूप धारि सागर संचारन।
कासी कहँ प्रिय जान ललकि भेंट्यो जगधाई;
सपनेहूँ नहि तजी रही अंकम लपटाई।
कहूँ बँधे नव घाट उच्च गिरिवर सम सोहत;
कहुँ छतरी, कहुँ मढ़ी बढ़ी मन मोहत जोहत।
धवल धाम चहुँ ओर, फरहरत धुजा पताका,
घहरत घंटा-धुनि, धमकत धौंसा करिसाका।
मधुरी नौबत बजत कहूँ नारी-नर गावत;
वेद पढ़त कहुँ द्विज, कहुँ जोगी ध्यान लगावत।
कहुँ सुंदरी नहात नीर कर जुगल उछारत;
जुग अंबुज मिलि मुक्त-गुच्छ मनु सुच्छ निकारत।
धोअत सुंदर बदन करन अतिही छवि पावत;
वारिधि नाते शशि-कलंक मनु कमल मिटावत।
सुंदरि शशि-मुख नीर-मध्य इमि सुंदर सोहत;
कमल बेलि लहलही नवल कुसुमन मन मोहत।
दीठि जहीं-जहँ जात रहत तितहीं ठहराई;
गंगा-छवि हरिचंद कछू बरनी नहिं जाई।

(हरिश्चंद्र)

देशदशा वर्णन

सेल गई बरछी गई, गए तीर तरवार;

घड़ी-छड़ी चसमा भए, छत्रिन के हथियार ।

विश्वामित्र वशिष्ट के, बंसजहा श्रीराम;

सब चीरत हैं पेट-हित, अरु बेचत है चाम ।

बहु दिन बीते राम प्रभु, खोए अपनो देस;

खोवत हैं अब बैठ के, भाषा-भोजन-भेस ।

(बाबू बालमुकुंद गुप्त)

सीखत कोउ न कला उदर भरि जीवत केवल;

पसु समान सब अन्न खात पीवत गंगाजल ।

धन विदेस चलि जात तऊ जिअ होत न चंचल;

जड़ समान ह्वै रहत अकल-हत रचि न सकत कल ।

जीवत विदेश की वस्तु लै, ता बिन कछु नहिं कर सकत;

जगि जागो अब साँवरे, सब कोउ रुख तुम्हरो तकत ।

(हरिश्चंद्र)

ब्रज भाषा वाले कहते हैं, वीररस की कविता में "तुपक्कैं तड़क्कैं" हीन ही हृदय को उत्तेजित करनेवाले पद भी हैं । यथा—

चलहु बीर उठि तुरत सबै जय ध्वजहिं उड़ाओ;

लेहु म्यान सों खड़ग खैंचि रन-रंग जमाओ ।

परिकर कसि कटि उठो धनुष पै धरि सर साधौ;

केसरिया बानो सजि-सजि रन कंकन बांधो ।

जौ आरजगन एक होइ निजरूप सम्हारैं;

तजि गृह कलहहिं अपनी कुल मरजाद निहारैं ।

तौ ये कितने नीच कहा इनकौ बल भारी;
सिंह जगे कहुँ स्वान ठहरिहैं समर मंझारी।"

(नील देवी)

व्रजभाषा वाले खड़ी बोली वालों से पूछते हैं कि राष्ट्रीयता और व्यापकता के लिहाज से बोलचाल की भाषा में कविता लिखना विशेष उपयोगी है, तो किनकी और कहाँ की बोलचाल की भाषा में कविता लिखनी चाहिए—विहारियों की या पंजाबियों की, बैसवाड़ियों की या व्रजवासियों की, काश्मीरी पंडितों की या बीकानेरी वैश्यों की, कोरी किसानों की या पाधा-पंडितों की, दिल्ली-लखनऊ या आजमगढ़-मऊ की, काशी की या झाँसी की ? किनकी बोलचाल की भाषा टकसाली मानी जाय, जिसमें कविता बने ? इस सवाल का हल होना ज़रा टेढ़ी खीर है; क्योंकि सभी अपनी-अपनी बोलचाल की भाषा में कविता करना चाहेंगे। इसका नतीजा यह होगा कि हिंदी दो मुल्लों की मुर्ग़ी बन जायगी, और खींचातानी में पड़ कुछ उन्नति न कर सकेगी। इसलिये नई भाषा याने खड़ी बोली में ही कविता किए जाने का जो आग्रह करते हैं, वेही, सच पूछिए तो, हमारी राष्ट्रभाषा के "जानी दुश्मन हैं।"

बेतुकी भाषा के विषय में व्रजभाषा वालों का कथन है कि दूसरी भाषाओं की नकल कर हिंदी में एक नई आफ़त खड़ी करने की क्या ज़रूरत है ? बेतुकी कविता के बिना हिंदी की क्या हानि है ? जब और बातें बेतुकी होने लगीं, तब भला कविता बेतुकी न हुई, तो क्या हर्ज़ है ? जो प्रकृत और प्रतिभाशाली कवि हैं, उनके आगे अनुप्रास हाथ जोड़े खड़ा रहता है। अनुप्रास के कारण उनके भाव भ्रष्ट नहीं होते। जो कच्चे कवि हैं, वे ही अनुप्रास के अन्वेषण

में असमर्थ हो भाव को भ्रष्ट करते हैं। वेतुके कवि भी तो अनुप्रास का आदर करते हैं। अंतर इतना ही है कि अनुप्रास को अंत में न लाकर आदि-मध्य जहाँ पाया, वहीं रख देते हैं। मौक़ा मिल जाय तो अंत में भी लाते हैं; पर कहते हैं कि यह भिन्न तुकांत कविता है। निम्न-लिखित पंक्तियाँ इसका प्रमाण हैं—

"गिरींद्र के अंक विलोकनीय थी;
वनस्थली बीच प्रशंसनीय थीं।
अनूप शोभा अवलोकनीय थी;
असेत जंबालिनि-कूल जंबुकों।"

'विलोकनीय' 'प्रशंसनीय' और 'अवलोकनीय' यहाँ विशेष विचारणीय हैं। ये तीनों शब्द तीनों पंक्तियों के अन्त में आए हैं। फिर भी यह भिन्न तुकांत कविता है, यही आश्चर्य है।

कोई यह न समझे कि ऐसा उदाहरण विरल है। इसलिये एक और उद्धृत करता हूँ—

"नितांतलघ्वी, घनता-विवर्धिनीं;
असंख्य पत्रावलि अंक-धारिणी।
प्रगाढ़ छायामयि पुष्पशोभिनीं;
अम्लान काया इमिली सुमौलिथी।"

"विवर्धिनी", "अंकधारिणी" और "पुष्प शोभिनी", इस बात का प्रमाण स्वरूपिनी है।

यह तो हुआ खड़ी बोली और व्रजभाषा वालों का प्रश्नोत्तर। मैंने क्या अवलोकन किया, अब वह भी सुन लीजिए। मेरी समझ से खड़ी बोली और व्रजभाषा वाले, दोनों ही राष्ट्रभाषा हिंदी के जानी दुश्मन हैं; क्योंकि खड़ी बोली वाले व्रजभाषा का बहिष्कार

करते हैं, और व्रजभाषा वाले खड़ी बोली को खरी-खोटी सुनाते हैं। इससे हिंदी को उन्नति में बाधा पहुँचती है। व्रजभाषा और खड़ी बोली हिंदी का दायाँ और बायाँ हाथ है। व्रजभाषा हिंदी का प्राचीन और खड़ी बोली नवीन स्वरूप है। इन दोनों से हिंदी की शोभा ही नहीं, श्रीवृद्धि भी है। व्रजभाषा का वहिष्कार करने से हिंदी की प्राचीनता प्रकट न होगी, और खड़ी बोली की खिल्ली उड़ाने से नवीनता नष्ट होगी। हानि दोनों से है। इसलिये दोनों दलवालों को ईर्षा-द्वेष त्यागकर काम करना चाहिए। आपस में गालीगलौज करने से कुछ लाभ नहीं।

अश्लीलता, सभ्यता और रुचि समयानुसार वदलती रहती हैं। पहले जिसे लोग पसंद करते थे, आज उसे नापसंद करते हैं। हम जिसे पसंद करते हैं, पहले उसे लोग नापसंद करते थे, और संभव है, आगे भी नापसंद करें। जैसे खरीदार होते हैं, दूकानदार भी वैसी ही चीजें रखते हैं। एक समय वह था, जब देशी वस्तुएँ कोई पसंद नहीं करता था, तो देशी वस्तुएँ विलायती छाप लगाकर बेची जाती थीं; पर एक समय आज है, जब देशी चीज़ों की माँग है तो विलायती चीजें देशी छाप से विक जाती हैं। तात्पर्य यह कि देश-काल-पात्र का प्रभाव सब पर पड़ता है। हम लोग पुरुषों के पाँव खुले रहने में कुछ बुराई नहीं मानते; पर स्त्रियों का वक्षस्थल खुला रहना बुरा समझते हैं। पर अंगरेज़ों के यहाँ इसके विपरीत रिवाज़ है। उनकी समझ से मर्दों के पैर खुले रहना असभ्यता है; पर स्त्रियों की छाती खुली रहना सुंदरता है। इसी तरह पहले जैसी लोगों की रुचि थी, जैसी सभ्यता थी, और अश्लीलता की जैसी सीमा थी, वैसी ही कविता कविगण करते थे। इसमें कवियों

का या ब्रजभाषा का क्या दोष है ? अब सब बातें बदल गई हैं, तो कविता का ढंग भी बदल गया है। समय आप ही सब कुछ करा लेगा। आपस में व्यर्थ झगड़ा करने से कोई लाभ नहीं।

खड़ी बोली के प्रेमियों से प्रार्थना है कि वे ब्रजभाषा के कवियों को गालियाँ देने के बदले अपने घर का कूड़ा साफ़ करें। अभी खड़ी बोली की कविता जैसी होनी चाहिए, वैसी नहीं होती। उसमें प्रायः भाव का अभाव और ओज की व्यर्थ खोज है। लालित्य के तो लाले पड़े रहते हैं। इसमें खड़ी बोली का दोष नहीं; दोष है उसके अधिकांश कवियों का, जो स्वयंभू-कवि बन जाते हैं। और, अधिक दोष है उनके पिट्ठुओं का, जो हर किसी को साहित्यरत्न, साहित्य-सम्राट् बना देते हैं। उर्दू भी तो खड़ी बोली ही है। देखिए, उसके कवि कैसी कविता करते हैं—

"सदियों से फ़िलसफ़े की चुना और चुनीं रहीं;
लेकिन ख़ुदा की बात जहाँ थीं, वहीं रही।"

इन दोनों पंक्तियों में कवि ने कैसी ख़ूबी के साथ फिलासफीवालों पर व्यंग्य किया है, यह देखकर दंग हो जाना पड़ता है।

और सुनिए—

"बादे मुर्दन कुछ नहीं यह फ़िलसफ़ा मरदूद है;
क़ौम ही को देखिए, मुर्दा है, और मौजूद है।"

इन खुले शब्दों में कैसा जादू भरा हुआ है! सुनते ही दिल फड़क उठता है। और सुनिए—

"बेपरदा कल जो आईं नज़र चंद बीबियाँ;
अकबर ज़मीं में ग़ैरते क़ौमी से गड़ गया।

पूछा जो उनसे आपका परदा व क्या हुआ ?

कहने लगीं कि अक़्ल पै मर्दों की पड़ गया।"

परदा उठानेवालों पर कैसा सुंदर आक्षेप है !

यह इलाहाबाद के तोहफ़ा जनाव अकबरहुसेन साहब की शायरी है, जिनकी बाबत कहा जाता है—

"कुछ इलाहाबाद में सामा नहीं बहबूद के;

व्हाँ धरा क्या है बजुज़ अकबर के और अमरूद के।"

क्या खड़ी बोली में दिल में चुभनेवाली ऐसी एक भी पंक्ति है ? मुझे तो काव्य क्या, महाकाव्य में भी नहीं मिली। फिर वह कविता ही क्या, जिससे दिल न फड़क उठे। कहा भी है—

"तया कवितया किंवा किंवा वनितया तया;

पदविन्याससमात्रेण मनोनापहृतं यया।"

अश्लीलता के भय से अर्थ नहीं लिखा।

बात यह है कि स्वाभाविक और प्रतिभाशाली कवि के लिये जैसी खड़ी बोली, वैसी ब्रजभाषा। वह चाहे जिसमें अच्छी कविता कर सकता है। स्वर्गवासी पंडित प्रतापनारायण मिश्र ने बैसवाड़ी बोली में भी बुढ़ापे का कैसा सुंदर स्वाभाविक वर्णन किया है कि पढ़कर जी लोट पोट हो जाता है। लीजिए—

"हाय बुढ़ापा तोहरे मारे अब तो हम नकन्याय गयन;

करत धरत कछु बनतै नाहीं कहाँ जान औ कैस करन।

छिन भरि चटक, छिनै माँ मद्धिम, जस बुझात खन होय दिया;

तैसे निखवख देखि परत हैं हमरी अक्किल के लच्छन।

अस कुछु उतरि जाति है जींते बाजी ब्दरियाँ दाजी बात;

कैस्यो सुधि हीं नाहीं आवति मूडुइ काहे न दै मारन।

का या ब्रजभाषा का क्या दोष है ? अब सब बातें बदल गई हैं, तो कविता का ढंग भी बदल गया है। समय आप ही सब कुछ करा लेगा। आपस में व्यर्थ झगड़ा करने से कोई लाभ नहीं।

खड़ी बोली के प्रेमियों से प्रार्थना है कि वे ब्रजभाषा के कवियों को गालियाँ देने के बदले अपने घर का कूड़ा साफ करें। अभी खड़ी बोली की कविता जैसी होनी चाहिए, वैसी नहीं होती। उसमें प्रायः भाव का अभाव और ओज की व्यर्थ खोज है। लालित्य के तो लाले पड़े रहते हैं। इसमें खड़ी बोली का दोष नहीं; दोष है उसके अधिकांश कवियों का, जो स्वयंभू-कवि बन जाते हैं। और, अधिक दोष है उनके पिट्ठुओं का, जो हर किसी को साहित्यरत्न, साहित्य-सम्राट् बना देते हैं। उर्दू भी तो खड़ी बोली ही है। देखिए, उसके कवि कैसी कविता करते हैं—

> "सदियों से फ़िलसफ़े की चुना और चुनी रही;
> लेकिन खुदा की बात जहाँ थी, वहीं रही।"

इन दोनों पंक्तियों में कवि ने कैसी खूबी के साथ फिलासफीवालों पर व्यंग्य किया है, यह देखकर दंग हो जाना पड़ता है।

और सुनिए—

> "बादे मुर्दन कुछ नहीं यह फ़िलसफा मरदूद है;
> कौम ही को देखिए, मुर्दा है, और मौजूद है।"

इन खुले शब्दों में कैसा जादू भरा हुआ है ! सुनते ही दिल फड़क उठता है। और सुनिए—

> "बेपरदा कल जो आई नज़र चंद बीबियाँ;
> अकबर ज़मी में ग़ैरते क़ौमी से गड़ गया।

पूछा जो उनसे आपका परदा व क्या हुआ ?

कहने लगीं कि अक़्ल पै मर्दों की पड़ गया ।"

परदा उठानेवालों पर कैसा सुंदर आक्षेप है !

यह इलाहाबाद के तोहफ़ा जनाव अकबरहुसेन साहब की शायरी है, जिनकी बाबत कहा जाता है—

"कुछ इलाहाबाद में सामा नहीं बहबूद के;
व्हाँ धरा क्या है बजुज़ अकबर के और अमरूद के।"

क्या खड़ी बोली में दिल में चुभनेवाली ऐसी एक भी पंक्ति है ? मुझे तो काव्य क्या, महाकाव्य में भी नहीं मिली। फिर वह कविता ही क्या, जिससे दिल न फड़क उठे। कहा भी है—

"तया कवितया किंवा किंवा वनितया तया;
पदविन्यासमात्रेण मनोनापहृतं यया ।"

अश्लीलता के भय से अर्थ नहीं लिखा।

बात यह है कि स्वाभाविक और प्रतिभाशाली कवि के लिये जैसी खड़ी बोली, वैसी व्रजभाषा। वह चाहे जिसमें अच्छी कविता कर सकता है। स्वर्गवासी पंडित प्रतापनारायण मिश्र ने वैसवाड़ी बोली में भी बुढ़ापे का कैसा सुंदर स्वाभाविक वर्णन किया है कि पढ़कर जी लोट पोट हो जाता है। लीजिए—

"हाय बुढ़ापा तोहरे मारे अब तो हम नकन्याय गयन;
करत धरत कछु बनतै नाहीं कहाँ जान औ कैस करन।
छिन भरि चटक, छिनै माँ मद्धिम, जस बुझात खन होय दिया;
तैसे निखबख देखि परत हैं हमरी अक्किल के लच्छन।
अस कुछु उतरि जाति है जीते बाजी ब्यरियाँ बाजी बात;
कैस्यो सुधि हीं नाहीं आवति मूड़उ काहे न दै मारन।

कहा चहौं कुछु, निकरत कुछु है, जीभ राँड़ का है यह हालु;
कोऊ थाकौ वात न समझै, चाहे बीसन दाँय कहन।
डाढ़ीं नोंक याऊ सा मिलि गै, बिन दाँतन मुहुँ अस पोपलान;
डाढ़ी हीं पर बहि-बहि आवति कबौं तमाखू जो फाँकन।
बार पाकिगे, रीरौ झुकिगै, मूड़ौ सासुर हालैं लाग;
हाथ-पायँ कछु रहे न आपन, केहिके आगे दुख रवावन।"

अब हिंदी के प्रसिद्ध कवि श्रीमान् पं० श्रीधर पाठक की देहरादून-यात्रा का वर्णन भी सुन लीजिए। इसकी भाषा गँवारी पूर्वी होने पर भी कैसी सरस है—

"ग्यारह मई महिनवा तेरह साल,
अदितवार अधदिनवा धूप दुकाल।
कठिन घोर दुपहरिया लुअकर जोर,
चलेउ तेज असवरिया टेसन ओर।
तुरतहि सब असबबिया बिल्टी कीन
भारी भीर सबबरा सँग नहिं लीन।
बैठत तुरत रेलिया सीटी दीन,
बिजु अस चपलमेलिया चाल प्रवीन।
पहिले चलिस चिंविड़िया कोमल चाल,
पुनि पल-पल अलबेलिया बढ़िस बेहाल।
भागत उथल पथलवा त्यागत देस,
बन-उपवन जल-थलवा बिसम बिसेस।
दौरत तट धुइँ पेड़वा निपट दिखाहिं,
लागत लुअन थपेड़वा मुँह के माँहिं।
चमतम तपत सुरजवा, जरत अकास,

चमचम चपल चउँधवा विकट प्रकास।"

खड़ी बोली वालों को एक तो शब्दों को तोड़ना मरोड़ना न चाहिए, दूसरे खड़ी बोली को कविता में व्रजभाषा की पुट न डालनी चाहिए। इससे भाषा खिचड़ी हो जाती है। जिन दोषों को दूर करने के लिये खड़ी बोली में कविता की जाती है, जब वे बने ही रहे, तो फिर खड़ी बोली की क्या ज़रूरत है? इससे तो व्रजभाषा ही अच्छी। विशुद्ध व्रजभाषा या ख़ालिस खड़ी बोली में कविता होनी चाहिए। दोनों की खिचड़ी न पकनी चाहिए। इसकी आवश्यकता भी नहीं है। ख़ालिस खड़ी बोली में ख़ासी कविता हो सकती है। बनानेवाला चाहिए। उर्दू का नमूना दिखा चुका। अब हिंदी का दिखाता हूँ—

"आ, आ प्यारी वसंत सब ऋतुओं में प्यारी;
तेरा शुभागमन सुन फूली केसर-क्यारी।
सरसों तुझको देख रही है आँख उठाए,
गेंदे ले ले फूल खड़े हैं सजे-सजाये।
आस कर रहे हैं टेसू तेरे दर्शन की;
फूल, फूल दिखलाते हैं गति अपने मन की।
पेड़ बुलाते हैं तुझको टहनियाँ हिलाके;
बड़े प्रेम से टेर रहे हैं हाथ उठाके।
मारग तकते बेरी के हुए सब फल पीले;
सहते-सहते सीत हुए सब पत्ते ढीले।
नीबू नारंगी हैं अपनी महक उठाए;
सब अनार हैं कलियों की दुरबीन लगाए।
पत्तों ने गिर-गिर तेरा पाँवड़ा बिछाया;

झाड़-पोंछ वायू ने उसको स्वच्छ बनाया।
फुल सुघनो की टोली उड़-उड़ डाली-डाली;
झूम रही हैं मद में तेरे हो मतवाली।
इस प्रकार है तेरे आने की तैयारी;
आ, आ प्यारी बसंत सब ऋतुओं में प्यारी॥"

इसकी भाषा कैसी सरल, सुबोध और शुद्ध है। भाव कैसा भव्य और रचना-शैली कैसी सुंदर है!

ब्रजभाषा के अनुरागियों से भी मेरा यही नम्र निवेदन है कि अब "यहि पाखें पतिव्रत ताखें धरौ" और "उमठ अरीरी मैं मरीरी कढ़ मुखते" का ध्यान छोड़िए। अब

"पजन प्रयत्नसौं सकेत परजंक पाय,
प्रफँद फुँदी के फंद-फंदन दुराय रे;
केलि कुल कलाकल, कुलकलै कूल-कूल
कुल कौल-कौल कील कली खुल काय रे।
ऊल अवलंब अलि, अवलि अबोल बोल,
लाल-लाल लोयन सौं सलिल बहाय रे;
ईलै उलै ओल ओली, ओलत अली लै ओले,
हौलै-हौलै खोले पल बोले हाय हाय रे।"

जैसे कवित्तों से काम न चलेगा। समय बदल गया है। अब न तो वह 'कलिंदी कूल' है और न "कदंब की डारन" हैं। अब तो

"लसत लहलही जहाँ सघन सुंदर हरिआई;
तहँ अब ऊसरमयी भई, नसि गई निकाई।"

ऐसी अवस्था में समय देखकर काम करना चाहिए। समय के अनुकूल चलने से सफलता और प्रतिकूल जाने से विफलता होती

है, इसका सदा स्मरण रखना चाहिए। फालतू बातें छोड़कर काम की बातें कहिए, जिससे नाम हो, और काम बने। उठिए, उत्तेजना दीजिए। इस समय इसकी आवश्यकता है। यदि आपको वास्तव में ब्रजभाषा की भक्ति है, और उसकी शक्ति बनाए रखने की इच्छा है, तो उसका संस्कार कीजिए। नए-नए रत्न लाने का प्रयत्न कर उसका भांडार भरिए, नहीं तो पछताने के सिवा और कुछ हाथ न आवेगा। अब सरल, सुबोध, साधु और शुद्ध भाषा में स्वराज, समाज और स्वदेश-संबंधी कविता कीजिए, जिससे साहित्य और स्वदेश का कल्याण हो।

इसमें संदेह नहीं कि ब्रजभाषा और खड़ी बोली, दोनों से राष्ट्रभाषा हिंदी का विभव बढ़ता ही है, घटता नहीं।

इसलिये—

> खड़ी पड़ी औ अड़ी गड़ी बोलिन को रगरौ;
> करौ न कबहूँ भूलि जानि यह झूठौ झगरौ।
> हिंदू आरज नामन कौ झगरौ मत ठानौ;
> जगन्नाथ की कही भला इतनी तौ मानौ।

'मल्लारि-मार्तंड' के संपादक को मेरा भी कृतज्ञ होना चाहिए; क्योंकि 'सरस्वती' और 'मिश्रबंधु-विनोद' की तरह मैंने भी उनका पक्ष पुष्ट करने के साधन संग्रह कर दिए हैं!

गद्य

अब गद्य में गोते लगाता हूँ, तो वहाँ भी अंधेर का अंधड़ पाता हूँ। शब्द, शैली और शील का संहार हो रहा है। "मनमानी घर जानी" का बाजार गरम है। जिसे देखो, वही ऐंठा सिंह बना बैठा है। जिसके मुँह से जो कुछ शुद्ध-अशुद्ध निकल जाता है, वह

उसे ही पत्थर की लकीर समझ लेता है। लाख समझाने पर भी कोई ख़ाक नहीं समझता। खंडन-मंडन में गाली-गलौज तक की नौबत पहुँच जाती है; पर निर्णय कुछ नहीं होता। वही ढाक के तीनों पात रह जाते हैं। इसका परिणाम यह हुआ कि जितने लेखक हैं, उतने प्रकार की शैली है, उतने प्रकार का वर्ण-विन्यास और उतने ही प्रकार की वाक्यरचना! तात्पर्य यह कि हिंदी लेखकों की स्वेच्छाचारिता बढ़ रही है। यदि यह न रोकी जायगी, तो हिंदी-साहित्य की बड़ी हानि होगी। इसलिये गद्य-भाग का सिंहावलोकन सम्यकरूप से करना कर्तव्य है। पर लेख बहुत लंबा हो गया। अतः इसे यहीं समाप्त कर शेषांश के लिये अगले सम्मेलन तक समय लेता हूँ, और यह कहने के लिये क्षमा माँगता हूँ कि—

> जिस हिंदू के है नहीं, हिंदी का अनुराग;
> निश्चय उसके जान लो, फूट गए हैं भाग।

क्योंकि—

> जिसको प्यारी है नहीं, निज भाषा, निज देश;
> पशु-सा है वह डोलता, नर का धरकर भेस॥

इसीसे—

> कुल-कुपूत-करनी निरखि, धरनी के उर दाह;
> धधक उठत सोई कबहुँ, ज्वाला गिरि की राह॥

और—

> निरखि कुचाल कुपूत की, धरनी होति अधीर;
> नैनन निरझर सौं झरत, यातैं तातो नीर।

अतएव—

मन हिंदी हिंदी कहु रे।
अँगरेज़ी कौं तजिकै प्यारे अपनी भाषा गहु रे।
दीन-हीन हिंदी-भाषा है, यह कलंक मत सहु रे;
निज भाषा की सेवा करिकैं "जगन्नाथ" जस लहु रे।

हिंदी-लिंग-विचार*

संस्कृत-व्याकरण का लिङ्ग-प्रकरण जैसा कठिन और जटिल है, वैसा हिंदी-व्याकरण का नहीं। पत्नी-वाचक होकर भी 'कलत्र' शब्द संस्कृत में क्लीबलिंग और 'दार' शब्द पुल्लिंग है। समस्त संसार का स्रष्टा होकर भी ब्रह्म नपुंसक है। यह सरासर असंभव और अस्वाभाविक है। आनंद की बात है, हमारी प्यारी हिंदी में ऐसी बेढंगी बातें नहीं। यहाँ पुरुष, पुरुष और स्त्री, स्त्री ही रहती है। लिंग-विपर्यय नहीं होता।

संस्कृत में तीन लिंग हैं—पुल्लिंग, स्त्रीलिंग और क्लीबलिंग। संस्कृत से निकली हुई भाषाओं का विचित्र हाल है। किसी में तीन लिंग, किसी में दो और किसी में एक भी नहीं, जैसे गुजराती मराठी में तीन हैं। बँगला और उड़िया भाषाओं में संस्कृत-तत्सम शब्द, संस्कृत के अनुसार उन्हीं तीन लिंगों में विभक्त हैं; पर ठेठ बँगला और उड़िया-शब्द लिंगरहित हैं। पंजाबी और सिंधी की तरह हिंदी में भी दो ही लिंग हैं। यहाँ स्त्री या पुरुष के सिवा कोई नपुंसक नहीं। अगर कुछ गड़बड़ भी है, तो चील-कौवों में। क्योंकि हिंदी में कौवा नित्य पुल्लिंग, और चील नित्य स्त्रीलिंग है। पर तो भी कुछ लोग हिंदी के लिंग-प्रकरण पर कुठाराघात करने के लिये तुले बैठे हैं। अगर इनकी चलती, तो बँगला की तरह हिंदी के

---

* यह बंबई के नवम हिंदी साहित्य सम्मेलन में पढ़ा गया।

लिंग का भी आज तक सफ़ाया हो जाता। पर भगवान् गंजे को नाख़ून ही नहीं देता।

लिंग-विरोधियों का कहना है कि हिंदी का लिंगभेद बड़ा कठिन है। और भाषाओं में तो संज्ञासर्वनाम में लिंग होता है; पर हिंदी की क्रिया भी लिंग से ख़ाली नहीं। इससे भिन्न भाषा-भाषी ही नहीं, हिंदी-भाषा-भाषी भी हैरान हैं। बहुत सावधान रहने पर भी वे लिंग की भूलों से नहीं बच सकते; क्योंकि हिंदी में सजीवों की कौन कहे, निर्जीव भी स्त्रीलिंग-पुल्लिंग के फेर में पड़े हैं। इसलिये जहाँ तक बने, जल्द इस बला को हिंदी से दूर करना चाहिए; क्योंकि हिंदी के राष्ट्रभाषा होने में लिंग बड़ी भारी बाधा डाल रहे हैं। इत्यादि।

जिन्हें इसका विश्वास न हो, वह "मिश्रबंधु-विनोद" खोल कर पढ़ लें। उसमें लिखा है--"हिंदी में सब से बड़ा झगड़ा लिंगभेद का है। इसके कोई भी स्थिर नियम नहीं हैं, केवल बोलचाल और महावरे के अनुसार इस पर कारवाई की जाती है।"

यदि कोई भिन्न भाषाभाषी या विदेशी ऐसी बात कहता, तो आश्चर्य न होता; पर हमारे मिश्रबंधु महाशय हिंदी बोलनेवाले ही नहीं, हिंदी के सुलेखक और सुकवि भी कहाते हैं। इनके मुँह से यह सुनकर कि हिंदी के लिंग के कोई स्थिर नियम नहीं, आश्चर्य ही नहीं, कौतूहल भी होता है। स्थिर नियम हैं या नहीं, यह कुछ न कह केलाग साहब (Rev. S. H. Kellogg) क्या कहते हैं, केवल वही यहाँ उद्धृत कर देता हूँ। केलाग साहब ने अँगरेज़ों के लिये हिंदी का व्याकरण बनाया है। उसमें वह कहते हैं—

"Although, as thus appears, the gender of a Hindi word often seems to be quite arbitrary, yet there are certain practical rules by which the gender of most nouns may be known."

अर्थात्, "हिंदी-शब्दों का लिंग यद्यपि मनमाने तौर से बना लिया गया है, तथापि कुछ नियम हैं, जिनसे अधिकांश शब्दों का लिंग जाना जा सकता है।" बस, इन्हीं दोनों उक्तियों को आप मिलाकर देख लें, और जो कुछ समझना हो, समझ लें। एक तो हिंदी-भाषाभाषी हैं, और दूसरे भिन्न भाषाभाषी विदेशी। पहले सज्जन कहते हैं कि स्थिर नियम नहीं है, और दूसरे कहते हैं कि हैं। मैं समझता हूँ कि आप लोग पहले सज्जन की ही बात मानेंगे; क्योंकि वह हिंदी के सुपुत्र हैं। उनकी ही बात सत्य हो सकती है। पर अफ़सोस! बात उलटी निकली। ऐसे ही सुपुत्रों की बातें सुनकर भिन्न भाषाभाषियों को हिंदी पर आक्षेप करने का अवसर मिल जाता है। इसी "मिश्रबंधु-विनोद" के सहारे इंदौर के मल्लारि-मार्तंड" के प्रचंड संपादक ने गत वर्ष हिंदी को हीन कहने का दुस्साहस किया था। ख़ैर, केलाग साहब ने कुछ नियम बताये हैं, जिनमें पहला यह है—These rules respect, either the signification of nouns or their terminations. अर्थात्, अर्थ और प्रत्यय के अनुसार लिंग होता है। और बात भी यही है। पर जो यह नियम नहीं जानते, वे लिंग-विपर्यय करते और कहते हैं कि हिंदी में स्थिर नियम ही नहीं है। ख़ैर, नियम है कि जिन शब्दों में हट, वट आदि प्रत्यय हों, वे स्त्रीलिंग होते हैं, जैसे बनावट, चिल्लाहट आदि। इस विषय में अँगरेज़ को भी गवाही

ले लीजिए; क्योंकि आजकल उन पर लोगों का, विशेषकर हमारे बंधुओं का, बड़ा विश्वास है। केलाग साहब कहते हैं—All nouns in हट or वट are feminine बुलाहट, बनावट आदि। कुछ लोगों ने भ्रमवश बुलाहट और बनावट के वज़न पर "झंझट" को भी साड़ी पहना एक नया झंझट खड़ा कर दिया। झंझट में हट, वट कोई प्रत्यय नहीं; यह स्वतंत्र शब्द है। फिर यह कैसे स्त्रीलिंग हो गया, इसका विचार कोई नहीं करता। सभी "गड्डलिकाप्रवाह"-न्याय से चले जाते हैं। अगर सोचें-विचारें, तो ऐसी भद्दी भूलें ही न हों। शिष्ट प्रयोग की तरफ़ जाइए, तो वहाँ भी झंझट आपको पुरुषवेष में ही मिलेगा।

हिंदी के प्रसिद्ध कवि और लेखक स्वर्गवासी पंडित प्रताप-नारायण मिश्र "मन की लहर" में कहते हैं—

मिला रहे अपने प्यारे से नशे में उसके चूर रहे;
जी चाहे सो करे, सारे झंझट से दूर रहे।"

"भारतमित्र" के भूतपूर्व संपादक मित्रवर स्वर्गवासी बाबू बाल-मुकुंद गुप्त दिल्ली-प्रांत के वासी थे। उन्हें इस विषय का मैं प्रमाण (authority) मानता हूँ। वह झंझट को सदा पुल्लिंग ही मानते थे। इसका प्रमाण "गुप्त-निबंधावली" के ८९ वें पृष्ठ पर है। उसमें लिखा है—"न मार्ग चलते भीड़ में रुकने का झंझट।"

जोधपुरनिवासी प्रसिद्ध इतिहासज्ञ मुंशी देवीप्रसादजी मुंसिफ़ "बहराम बहरोज" नाम की हिंदी-पुस्तिका के २६ वें पन्ने में लिखते हैं—"बहरोज ने यह ख़बर सुनकर अपने बाप और चचा से कहा कि मैं तो विवाह करके बड़े झंझट में पड़ गया।"

'सतसई-संहार' वाले श्रीयुत पंडित पद्मसिंह शर्मा संस्कृत-हिंदी के अच्छे विद्वान, और फ़ारसी-उर्दू के आलिम हैं। उनसे पूछा, तो वह लिखते हैं—झंझट के झगड़े में आपकी सर्वतोमुखी जीत हुई। उर्दू के कोशकार फरहंगे आसफ़िया के लेखक देहलवी और जलाल, तथा जलील लखनवी इसे मुज़क्कर (पुल्लिंग) ही मानते हैं।" पद्मसिंहजी सिर्फ़ राय ही नहीं देते, पुल्लिंग में इसका प्रयोग भी करते हैं। ३०।५।१८ के पत्र में आप लिखते हैं—"अब आपको गृहस्थ के झंझटों का अधिक सामना करना पड़ेगा।"

इसलिये झंझट के पुल्लिंग होने में अब झगड़ा या झंझट न होना चाहिए।

झंझट के बाद "आहट" है। इसकी भी ख़ूब खींचातानी है। इसमें "हट" प्रत्यय नहीं, तो भी इसका प्रयोग स्त्रीलिंग-सा है। स्वर्गवासी राजा लक्ष्मणसिंह हिंदी के उन्नायकों में से हैं। वह आगरे के निवासी थे। इससे उनके प्रयोग प्रमाण-स्वरूप हैं। राजा साहब के बनाए "अभिज्ञान शकुंतला" नाटक की दो प्रतियाँ मेरे सामने हैं। एक तो आगरे के मूनप्रेस की सन् १९०४ की छपी है, और दूसरी "काशी के सेंट्रल हिंदू-कॉलेज के अध्यापक और बनारस की नागरीप्रचारिणी सभा के भूतपूर्व-मंत्री तथा उपसभापति" बाबू श्यामसुंदरदास बी०ए० द्वारा संपादित सन् १९०८ ई० की है, जो प्रयाग के इंडियन प्रेस में छपी है। इन दोनों में बड़ा भारी लिंगभेद है। अब मैं किसे प्रमाण मानूँ, यह समझ में नहीं आता; क्योंकि उधर तो राजा लक्ष्मणसिंह आगरे के और इधर बाबू श्यामसुंदरदास काशी के। ख़ैर, इसके निर्णय का भार मैं विद्वानों पर छोड़ आगे बढ़ता हूँ।

आगरेवाली प्रति के १० वें पन्ने की टिप्पणी में लिखा है—"हमारा आहट पाकर कुछ भी नहीं चौंकते।" और प्रयागवाली के चौथे पृष्ठ में है—"हमारी आहट पाकर कुछ भी नहीं चौंके।"

शायद यह छापाखाने के भूतों की लीला हो। इसलिए लिंग-परिवर्तन का दूसरा उदाहरण लीजिए। आगरेवाली प्रति के १२६वें पन्ने में माढव्य की यह उक्ति है—"जहाँ मणि-जटित पटिया बिछी है, यही माधवी कुंज है। निस्संदेह यह ऐसी दीखती है, मानों मनोहर फूलों की भेंट लिए हमें आदर देती है। चलो, यहीं बैठें।"

यहाँ "कुंज" शब्द की ओर आप लोगों का ध्यान आकृष्ट करता हूँ। इसे राजा साहब ने स्त्रीलिंग में प्रयोग किया है।

अब बाबू श्यामसुंदरदासवाली प्रति खोलिए। उसके ७८ वें पन्ने में वही माढव्य कहता है—"यह माधवीकुंज, जिसमें मणि-जटित पटिया बिछी है, यद्यपि निर्जीव है, तो भी ऐसा दिखाई देता है, मानों आपका आदर करता है। आओ चलकर बैठें।"

यहाँ बाबू साहब ने कुंज पर कृपा कर उसे पुल्लिंग बना दिया है, और "दिखती है" को "दिखाई देता है" कर दिया है। शायद यह भी छापे की भूल हो। तो क्या छापे की भूलें करने के लिये ही यह संपादन हुआ है ?

अच्छा "आहट" सुन अभी मत चौंकिए। आइए "कुंज" की ओर। देखिए, यहाँ क्या गुल खिलते हैं।

चतुर्थ सम्मेलन के सभापति, हिंदी के सुप्रसिद्ध कवि मेरे मित्र पं० श्रीधर पाठक भी आगरा-वासी हैं। वह अपने "ऊजड़गाँव" में कहते हैं—

"प्यारी-प्यारी वे मलूक हरियाली कुंजें।
सोभा-छवि-आनंद-भरी सब सुख की पुंजें।"

"जगतसचाई सार" में भी पाठक जी ने कुंज को स्त्रीलिंग लिखा है—

यथा

"ये नदियाँ, ये झील सरोवर,
कमलों पर भौंरों की गुंज;
बड़े सुरीले बोलों से अनमोल,
घनी वृक्षों की कुंज।"

हमारे मैनपुरी-निवासी मस्त मुँहफट कवि चौबे भीखमसिंह भी गा गए हैं—

"रानी किसोरी की कुंज में, भिखमसिंह आए लोटा डार।"

इससे सिद्ध होता है कि आगरे की ओर "कुंज" शब्द स्त्रीलिंग में प्रयुक्त होता है, और काशी-प्रयाग में पुल्लिंग। शायद इसी से बाबूसाहब ने कुंज और आहट का लिंग-परिवर्तनकर राजासाहब की इसलाह कर दी है। पर ऐसा करने का उन्हें क्या अधिकार है?

कुछ लोग गेंद को पुल्लिंग लिखते हैं; पर यह स्त्रीलिंग है यथा—

"श्याम मोहिं चोरी लगाई।
खेलत गेंद गिरो जमुना में,
तू मेरी गेंद छिपाई;
हाथ डार अँगिया में देखे,
एक गई द्वै पाई।"

उर्दू वाले भी गेंद को स्त्रीलिंग ही मानते हैं। जैसे—

"जी नज़ाकत से कलाई की धड़कता है मेरा;
हाथ में गेंद उठा तुमने उछाली वेढब।"

इसी तरह आत्मा के स्त्रीलिंग होने का प्रमाण भी दादूदयाल की विनती में मिलता है।

"तन-मन निर्मल आत्मा,
सब काहू की होय;
दादू विषय-विकार की
बात न बूझै कोय।"

अब तीसरा नियम लीजिए। "इया"-प्रत्यांत-शब्द स्त्रीलिंग होते हैं। केलाग साहब भी यही बात कहते हैं—Diminutives ending in इया are feminine. यथा चिड़िया, फुड़िया आदि। अब वज़न पर लिंग बनानेवालों ने चिड़िया के वज़न पर तकिया और पहिया को भी स्त्रीलिंग बना डाला, हालाँकि इसमें "इया" प्रत्यय नहीं है। स्वर्गवासी पंडित केशवराम भट्ट ने अपने व्याकरण के ७३ वें पन्ने में साफ़ लिखा है—"आकारांत संज्ञाएँ पुल्लिंग होती हैं। जैसे—तकिया, पहिया आदि।"

मैं समझता हूँ, लिंग-प्रकरण के स्थिर नियम सिद्ध करने के लिये ये उदाहरण अलम् होंगे।

कोई समालोचक लिंग की भूलें न निकाले, इसलिये मिश्र-बंधुओं ने क्या अच्छा उपाय सोच निकाला है। आप "विनोद" में कहते हैं—"वे समालोचक, जो ईर्षाद्वेष-वश आलोच्य लेख एवं लेखक का खंडन करना ही अपना कर्तव्य समझते हैं, हिंदी में प्रसिद्ध लेखक तक की ऐसी ही (लिंग की) भूलें खोज निकालने के लिये बड़े उत्सुक रहा करते हैं। वे इतना तक नहीं विचारते

कि यदि हमारे नामी लेखकगण भी इस लिंगभेद को नहीं समझ सकते, तो इसमें किसका दोष है !"

मेरी समझ से इसमें सबसे बड़ा दोष है हिंदी के वैयाकरणों का, जिन्होंने मिश्रबंधुओं से सलाह लिए बिना लिंग-निर्णय के नियम स्थिर कर दिए। अगर न करते, तो आज मिश्रबंधुओं के-से नामी लेखकों की ओर कौन नज़र उठा कर देख सकता था। सचमुच वैयाकरणों ने यह बड़ी भारी भूल की। और, कुछ थोड़ा-सा दोष समालोचकों का भी है, जो बिना विचारे नामी लेखकों के दोष निकालते हैं! जिसका नाम निकल गया, फिर भला उसकी समा-लोचना क्या ? वह चाहे जो लिखे। नामी लेखकों की समझ में लिंग-भेद न आवे, तो इसमें उनका क्या दोष है ! यह लिंग-प्रकरण का ही दोष है, जो उनकी समझ में नहीं घुसता है। यही कारण है, मिश्रबंधुओं ने अपने विनोद में "गड़बड़", "खोज" आदि शब्दों को पुल्लिंग बना लिंगों की गड़बड़ की है !

आगे चलकर "मिश्रबंधु" और भी ग़ज़ब करते हैं। आप कहते हैं—"जहाँ तक कोई नपुंसक लिंग वाला प्रयोग स्पष्ट और निर्विवाद-रूप से अशुद्ध न ठहर जावे, वहाँ तक उसमें लिंगभेद-विषयक अशुद्धियाँ स्थापित न करनी चाहिए; क्योंकि वास्तव में निर्जीव पदार्थ न पुल्लिंग हैं, और न स्त्रीलिंग।"

वास्तव में बात ऐसी ही है। कोई समझदार इसका खंडन न करेगा। निर्जीव पदार्थ न पुल्लिंग हैं, न स्त्रीलिंग और न नपुंसक ही हैं। उन्हें किसी लिंग में मान लेना सचमुच सरासर अन्याय है। पर लाचारी है। यह हमारा आपका शरीर वास्तव में नाशवान् है—यह जगत वास्तव में अनित्य और असत्य है; पर तो भी हम

संसार के सब काम करते ही हैं। ख़ैर, "ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या" यह वेदांत-वाक्य जाने दीजिए। आप राय बहादुरों और राजा बहादुरों को देख लीजिए। क्या ये वास्तव में बहादुर हैं? यदि हैं, तो इनकी वास्तविक बहादुरी का प्रमाण दीजिए। और, जबतक इनकी बहादुरी "स्पष्ट और निर्विवाद रूप से" साबित न होजाय, तब तक इन्हें राय बहादुर या राजा बहादुर न कहिए; क्योंकि मिश्रबंधु महाशय कहते हैं कि जब तक नपुंसकलिंग वाला प्रयोग स्पष्ट और निर्विवाद-रूप से अशुद्ध न ठहर जाय, तब तक उसमें लिंगभेद-विषयक अशुद्धियाँ स्थापित न करनी चाहिए; क्योंकि वास्तव में निर्जीव पदार्थ न तो पुल्लिग हैं, और न स्त्रीलिंग। क्या आप ऐसा करने को तैयार हैं? मैं समझता हूँ, नहीं; क्योंकि यह राजाज्ञा के विरुद्ध है। जिस प्रकार हम शरीर और संसार को सत्य एवं नित्य मानकर सांसारिक कार्य कर रहे हैं, और एक मेढ़की मारने में भी जिनके हाथ काँपते हैं, वे रायबहादुर और जिनके पास एक बिस्वा भी धरती नहीं, वे राजा बहादुर माने जाते हैं, ठीक उसी प्रकार निर्जीव पदार्थ भी स्त्रीलिंग-पुल्लिग माने जाते हैं। कुछ हिंदी में ही ऐसा नहीं होता, और भाषाओं में भी होता है। सबसे पहले संस्कृत को ही लीजिए। उसमें वेद पुल्लिग, और उपनिषद् स्त्रीलिंग है, और ये दोनों निर्जीव पदार्थ हैं।

जो अँगरेज़ी-भाषा आजकल गंगाजल से धोई-पखारी बड़ी पवित्र समझी जाती है, वह भी इसका शौक़ करती है। अँगरेज़ी में जहाज़ (Ship), चंद्रमा (Moon), रेलगाड़ी (Train) और देश (Country) आदि शब्द स्त्रीलिंग हैं, और सूर्य पुल्लिग है। क्यों? क्या यह सजीव हैं? हम हिंदू तो सूर्य्य-चंद्र को भला

सजीव मानते भी हैं; पर योरुपवाले नहीं मानते। फिर सूय पुरुष, और चंद्रमा नारी क्यों? क्या मिश्रबंधु महाशय इसका कुछ उत्तर रखते हैं? अँगरेज़ी के असीम अनुग्रह से ही हमारा प्यारा भारतवर्ष आज भारतमाता बन गया है।

अप्राणिवाचक शब्दों का लिंग-निर्माण उनके गुणानुसार होता है। मधुरता, कोमलता, मनोहरता, सुकुमारता, निकृष्टता, हीनता, लघुता, दुर्बलता आदि गुणवाली वस्तुएँ स्त्रीलिंग, और कठोरता, उग्रता, दृढ़ता, सहनशीलता, उत्कृष्टता आदि गुणवाले पदार्थ पुल्लिंग कहलाते हैं।

मेरे इस कथन की पुष्टि "भारतमित्र"-संपादक पं० अंबिकाप्रसाद वाजपेयी-कृत "हिंदी-कौमुदी" नामक व्याकरण से होती है, जिसके १८ वें पन्ने में लिखा है—"अप्राणिवाचक शब्दों के स्त्रीलिंग से हीनता या छुटाई का भाव निकलता है।"

पर अँगरेज़ों की गवाही विना आजकल पक्ष पुष्ट नहीं होता। इसलिये ढूँढ़-ढाँढ़ कर अँगरेज़ गवाह लाया हूँ। अँगरेज़ भी कैसा? ख़ासा सिविलियन। इनका नाम है मिस्टर जॉन बीम्स (John Beames) यह अपने Comparative Grammar में कहते हैं—"The masculine is used to denote large strong, heavy & coarce objects; the feminine small, weak, light & fine ones; and the neuter, where it exists, represents dull; inert & often contemptible things." याने बड़ी, मज़बूत, भारी और मोटी चीज़ें पुल्लिंग; छोटी कमज़ोर, हलकी तथा पतली चीज़ें स्त्रीलिंग और सुस्त, ढीली तथा तुच्छ वस्तुएँ क्लीबलिंग समझी जाती हैं।

आनंद की बात है, हिंदी में क्लीवता को स्थान नहीं मिला। इसलिये इस बारे में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं।

सज्जनो, हिंदी के राष्ट्रभाषा होने में लिंग बाधा डालते हैं या नहीं, यह अभी विचारणीय नहीं है। अभी तो यह विचारना है कि लिंग के प्रयोग में इतनी विभिन्नता क्यों है, और उसके सुधार का क्या उपाय है? साथ ही यह भी निवेदन कर देना अनुचित न होगा कि मैं अंग-भंग कर हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाने के पक्ष में नहीं। "वा सोने को बारिये, जासों टूटें कान।" मैं वैसा सोना नहीं चाहता, जिससे कान टूटें। मैं हिंदी की वैसी उन्नति नहीं चाहता, जिससे उसकी स्वाभाविकता नष्ट हो! इसके सिवा हिंदी अपनी सरलता और व्यापकता के कारण स्वयं ही राष्ट्रभाषा बन गई है, और बनती चली जा रही है।

बाक़ी रही लिंग के प्रयोग की कठिनता, वह शिक्षा और अभ्यास से दूर हो सकती है। अँगरेज़ी-जैसी कठिन और दुरूह भाषा हम सीख लेते हैं, जिसमें अक्षरों का अभाव, वर्ण-विन्यास का व्यतिक्रम और उच्चारण की उच्छृङ्खलता है। नियम का तो वहाँ नियम ही नहीं है। लिखा जाय Psalm, और पढ़ा जाय साम। There देअर और here हीअर। Circle में "सी" क और स, दोनों का काम करती है। इसके सिवा जहाँ Running Water माने बहता पानी, और Walking stick माने टहलती हुई छड़ी न होकर टहलने की छड़ी होता है, वहाँ के गड़बड़झाले का क्या ठिकाना है। जब इस भाषा को हम केवल सीख ही नहीं अँगरेज़ों की तरह ठीक बोल और लिखकर गौरव प्राप्त कर सकते हैं, तो हिंदी का लिंग-ज्ञान कौन बड़ी बात है! आख़िर यह भारत की

भाषा है और संस्कृत से निकली है। इसके सीखने में देर न लगेगी। ज़रा ध्यान देने से ही हिंदी का लिंग-प्रकरण सहज हो जायगा।

हिंदी के लिंग पर लोगों की इतनी कड़ी नज़र क्यों है ? इसलिये कि कुछ पंडिताभिमानी अहम्मन्य लेखकों ने इसका दुरुपयोग किया है, और कर रहे हैं। मनमाने तौर से लिंग का प्रयोग हो रहा है। इसका कारण हिंदीशिक्षा और समालोचना का अभाव है। अगर सीखकर लोग हिंदी लिखें, तो ऐसी गड़बड़ न हो। कोई तो अँगरेज़ी के सहारे हिंदी का सुलेखक बन जाता है, और काई संस्कृत के। कुछ करीमा-मामकीमा पढ़कर, और कुछ विना पढ़े ही हिंदी के सुलेखक तथा सुकवि बन बैठते हैं। मेरे कहने का तात्पर्य यह नहीं कि ये लोग हिंदी न लिखें। ज़रूर लिखें। मैं इसके लिये इनसे विनीत प्रार्थना करता हूँ। पर सीखकर लिखें। यदि सीखकर लिखते, तो हिंदी के लिंग की आज यह दुर्दशा न होती। हमारे संस्कृत के पंडितजी महाराज आत्मा को कभी साड़ी न पहनावेंगे; क्योंकि उसके सिर पर संस्कृत-प्रणाली से पगड़ बाँधते आए हैं। लाख समझाने पर भी वह अपना अभ्यास न छोड़ेंगे। हिंदीवाले तो आत्मा को स्त्रीलिंग लिखेंगे; पर पंडितजी आत्मा को स्त्रीलिंग बनाना अपनी आत्मा के विरुद्ध मानते हैं। इसी तरह स्वाहा के रहते पंडितजी अग्नि को कभी स्त्रीलिंग न मानेंगे, और न देवता को वह पुल्लिंग ही; क्योंकि संस्कृत में अग्नि पुल्लिंग, और देवता स्त्रीलिंग है। इसी तरह वायु, महिमा, अंजली, तान, शपथ, धातु, देह, जय, मृत्यु, संतान, समाज, ऋतु, राशि, विधि आदि शब्दों में झगड़ा है; क्योंकि संस्कृत में ये पुल्लिंग हैं, पर हिंदी

में स्त्रीलिंग। हिंदी लिखने के समय इनका प्रयोग हिंदी के अनुसार ही होना उचित है।

अब उर्दूवालों की लीला सुनिए। वे 'धरमसाले में 'पाठसाले' का 'चर्चा' कर 'मोहनमाले' से 'अपना मान-मर्यादा' बढ़ाते हैं। पर हिंदीवाले ऐसा नहीं करते। वे बहुत करेंगे, तो अपनी "कबीला" की "हुलिया" अपनी "तायफ़ा" को बता "उमदी धोती" न दे "बेहूदी बातें" बक "ताज़ी ख़बरें" सुनावेंगे। कहने का तात्पर्य यह कि हिंदी में धर्मशाला, पाठशाला, चर्चा, माला, मर्यादा आदि शब्द स्त्रीलिंग हैं; पर उर्दूवालों ने इन्हें पुल्लिंग बना दिया है। इसी तरह कबीला, हुलिया, तायफ़ा पुल्लिंग हैं; पर हिंदी के रंगरूटों ने इन्हें स्त्रीलिंग कर डाला है। उमदा, बेहूदा, ताज़ा वग़ैरह लफ़्ज़ स्त्रीलिंग के लिये कभी उमदी, बेहूदी, ताज़ी नहीं बनते। इनका रूप सदा एकसा रहता है।

हिंदी के लिंग-विभाग पर प्रायः सभी प्रांतवाले कुछ न कुछ अत्याचार करते हैं; पर बदनाम हैं बेचारे बिहारी बंधु ही। इसका कारण समझ में न आया। अगर बिहार में "हाथी विहार करती है", तो पंजाब से "तारें आती" हैं, और युक्तप्रांत के काशी-प्रयाग में लोग "अच्छी शिकारें मारकर लंबी सलामें" करते हैं। अगर बिहार में "दही खट्टी" होती है, तो मारवाड़ में "बुख़ार चढ़ती है", "जनेऊ उतरती" है; और कानपुर की जुही के मैदान में "बूँद गिरता" और "रामायण पढ़ा जाता" है। बिहार में "हवा चलता" है, तो झालरापाटन में "नाक कटता है," और मुरादाबाद में "गोलमाल मचती" है। फिर बिहार ही क्यों बदनाम है ?

कुछ गड़बड़ कोषकारों ने भी की है पादड़ी क्रेवन (Craven) अपनी "रायल डिक्सनरी" में अफ़वाह और भूख को पुल्लिंग लिखते

हैं। अँगरेज़ों की बात जाने दीजिए। हमारे हिंदीवाले भी "तथैवच" हैं। किसो ने संस्कृतलिंग का सहारा लिया, और किसी ने उर्दू-फ़ारसी का। कुछ ने तो दोनों की खिचड़ी पकाई है। हिंदी का माननीय कोष एक भी नहीं, जिसके भरोसे हिंदी का लिंग ठीक हो सके। नागरीप्रचारिणी-सभा का कोष अभी अधूरा ही है; परन्तु संतोष-दायक वह भी नहीं। लिंग-व्यभिचार उसमें भी हुआ है।

सबसे बढ़कर हैं वज़न पर लिंग बनानेवाले। उनका कहना है कि जब बंदूक स्त्रीलिंग है, तो संदूक को भी स्त्रीलिंग होना चाहिए; क्योंकि इन दोनों का वज़न याने तुक एक है। इसी तरह मकान के वज़न पर दूकान को पुल्लिंग या दूकान के वज़न पर मकान को स्त्रीलिंग होना चाहिए।

हिंदी के सुलेखक कहलानेवाले एक सज्जन ने संदूक को दोनों लिंगों में व्यवहार किया था। मैंने इसका कारण पूछा, तो बोले—"जिस समय बड़े संदूक का ख़याल आ गया, पुल्लिंग लिखा और छोटे संदूक का ख़याल आया तो स्त्रीलिंग लिखा।" यह माकूल जवाब सुन मैं चुप हो रहा, और कुछ पूछने की हिम्मत न पड़ी।

समास और संधियुक्त पदों के लिंग में भी लोग गड़बड़ करने लगे हैं। ऐसे स्थानों में उत्तर शब्द के अनुसार ही समस्त पद का लिंग होता है। जैसे—इच्छानुसार, ईश्वरेच्छा। यहाँ अनुसार अंत में है, इसलिये "इच्छा" के रहते भी इच्छानुसार पुल्लिंग है, और ईश्वरेच्छा में "इच्छा" अंत में है, इसलिये यह स्त्रीलिंग है। इसी नियम के अनुसार चालचलन और चाल-व्योहार भी पुल्लिंग है, पर केलाग साहब ने इन्हें स्त्रीलिंग बताया है। यह उनकी भूल है।

"भलीभाँति" की जगह "भली प्रकार" और "अच्छी तरह" की जगह "अच्छी तौर" से लिखने की चाल चली है पर यह तौर अच्छा नहीं, और न प्रकार ही भला है।

संस्कृत के कुछ प्रेमी हिंदी में भी अपने संस्कृतप्रेम का परिचय दे हिंदी को असंस्कृत कर रहे हैं। वे "शृंगारसंबंधिनी चेष्टा" "उपयोगिनी पुस्तकें", "कार्यकारिणी सरकार", "परोपकारिणी वृत्ति", "प्रभावशालिनी वक्तृता", "मनोहारिणी कविता", ही नहीं, "प्रबला स्त्री" का भी प्रयोग करने लगे हैं। अब भविष्यत पत्नी और भावी पत्नी के स्थान पर भविष्यंती पत्नी और भाविनी पत्नी के भी दर्शन होंगे। फिर "सुंदरा कन्या" "पवित्रा धर्मशाला" में "विदुषी व्यक्तियों" से "संस्कृता भाषा" पढ़ेंगी। इधर 'नागरी-प्रचारिणी-सभा' के रहते हिंदीसाहित्य-सम्मेलन की "स्थायी समिति" "अभागी हिंदी" की "शोचनीय स्थिति" देख "स्वतंत्रतावादी महिला" की भाँति "प्रभावशाली देवता" से प्रार्थना कर रही है। इससे हिंदी बोलनेवाली व्यक्तियाँ, हस्तिनी शंखिनी के साथ कहीं 'कुलिनी' 'पुरुषिनी' न बन जायें।

ऐसी अवस्था में हिंदीसाहित्य-सम्मेलन को प्रचार के विचार में ही सारा अधिकार न लगा हिंदी के उपकार के लिये सौ काम छोड़कर इसके सुधार की ओर सब प्रकार से ध्यान देना उचित है; क्योंकि इससे हिंदी की बड़ी हानि हो रही है।

भ्रम, भूल, हठ, दुराग्रह, प्रांतीयता चाहे जिस कारण से हो, हिंदी में उभयलिंगी शब्दों की संख्या दिनोंदिन बढ़ती जाती है। यह हिंदी के लिये हानिकारक है। यदि यही दशा रही, तो अनर्गलता बढ़ जायगी। इसलिये मेरी राय है कि पं० गोविंदनारायण मिश्र,

पं० पद्मसिंह शर्मा, पं० चंद्रधर शर्मा गुलेरी, पं० श्रीधर पाठक और पं० अंबिकाप्रसाद बाजपेयी की एक समिति बनाली जाय, जो समाज, पुस्तक, साँस, आत्मा, हठ, सामर्थ्य, प्रलय, यज्ञ, पीतल, कुशल आदि शब्दों का लिंग-निर्णय कर दे और वही शुद्ध माना जाय।

प्रांतीयता का प्रेम छोड़कर दिल्ली-मथुरा-आगरे के प्रयोगों का अनुकरण सबको करना चाहिए; क्योंकि मेरी समझ से यहीं के प्रयोग शुद्ध और माननीय हैं। और प्रांतों के प्रयोग इनके प्रयोग के सामने कट जायँगे; क्योंकि हिंदी की जन्मभूमि यहीं है, और यहीं के निवासी अहलेज़बाँ हैं। दिल्ली, मथुरा, आगरा इन तीनों में मतभेद हो, तो आगरे को प्रधानता देनी चाहिए; क्योंकि हिंदी के प्राचीन और नवीन कवि अधिकांश आगरे या आगरे के आसपास हुए हैं। शुद्ध अँगरेज़ी सीखने के लिये जैसे हम अँगरेज़ों के बनाए ग्रंथ पढ़ते और उनके मुँह की ओर देखा करते हैं, वैसे ही शुद्ध लिंग-प्रयोग सीखनेवालों को दिल्ली-आगरा-मथुरावालों के मुँह की ओर देखना चाहिए, और प्राचीन कवि और लेखकों के ग्रंथ पढ़ने चाहिए। लिंग-सुधार का यही अच्छा और सरल उपाय है।

भाषण *

आज मंगलमय मुहूर्त है, सुखमय शुभ समय है—आनंदमय अद्वितीय अवसर है। आज हम लोग शुचि शालग्रामी नदी के तट पर पवित्र हरिहरक्षेत्र में वीणापाणि भगवती भारती की भक्तिपूर्वक आराधना करने के लिये बहुत दिनों के बाद एकत्र हुए हैं। वीणा-पाणि की उपासना से बढ़कर और कोई उपासना नहीं। इससे अर्थ, धर्म, काम, और मोक्ष सब कुछ सहज ही प्राप्त हो जाते हैं। सारदा देवी की कृपा से मनुष्य अमर होता है। आज हम भी अमरत्व-प्राप्ति की आकांक्षा से यहाँ आए हैं। आशा है, माता की अनुकंपा से अवश्य ही अमर हो जायँगे।

माता के मंदिर में भेदभाव नहीं, और न पक्षपात है। वहाँ राजा-रंक, धनी-दरिद्र सब को समान अधिकार और समान स्वतंत्रता है। सरस्वती की सेवा पर सभी का समान स्वत्व है। इसी से आज विहार के छोटे, बड़े, बालक, बूढ़े, स्त्री, पुरुष, अमीर, गरीब, हिंदू-मुसलमान जातिभेद, वर्णभेद तथा व्यक्तिभेद भूलकर जगज्जननी के श्रीचरणों में पुष्पांजलि प्रदान करने को प्रस्तुत हैं। सभी का एक उद्देश्य और एक लक्ष्य है— सबका एक मन और एक प्राण है—सबका एक ज्ञान और एक ध्यान है—सबका एक स्वर और एक तान है—सभी अपने-अपने सामर्थ्य के अनुसार माता की पूजा करने के लिये उतावले हो रहे हैं।

---

* विहार प्रादेशिक हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति रूप में पठित।

भाइयो, आज बहुत दिनों पर माता की याद आई है। हम लोग भले ही माता को भूल जाँय; पर माता संतान का नहीं भूलती। हम भले ही कुपूत हो जाँय, पर माता कुमाता नहीं होती। वह सदा सपूतों और कुपूतों को एक ही दृष्टि से देखती है। वह पक्षपात नहीं करती। अतएव आइए, और श्रद्धाभक्तिसहित कहिए—

"वीणापुस्तक रंजितहस्ते, भगवति भारति देवि नमस्ते।"

सज्जनो, सरस्वती-सेवकों और साहित्य-सेवियों का यह सुंदर समारोह देख चित्त गद्गद हो रहा है। जिनके उद्योग से यह अलभ्य लाभ हुआ है, उन्हें हृदय से धन्यवाद देता हूँ और आशा करता हूँ कि वह सदैव ही ऐसा दृश्य दिखाया करेंगे। पर एक प्रार्थना है कि अब के जैसी भूल हो गई, वैसी फिर कभी न हो। पर इसमें किसीका क्या दोष ?

"अजस पिटारी ताहिकर गई गिरा मत फेरि"

गिरा ने मंथरा की मति फेरकर जैसे गड़बड़ कर दी थी, वैसे यहाँ भी उसने हमारी, आपकी, सबकी मति की गति फेर दी। बस, आपने मुझ-जैसे "विनोदी" को सभापति चुन डाला, और मैंने भी मंजूर कर लिया। अब इस भयानक भूल का फ़ालतू फल हमारे, आपके सिवा और कौन भोगेगा ? ख़ैर, आगे के लिये किसी मुहर्रमी को अभी से चुन रखिए, जो चित्त-विनोद न कर चित्त को चोट पहुँचाकर लोटपोट करदे।

विहार की वर्तमान अवस्था अवलोकन कर जो अतीत का अनुमान करते हैं, वे बेतरह भूलते हैं। विहार का प्राचीन गौरव सोने के अक्षरों में लिखने योग्य है। विदेह जनक का ब्रह्मज्ञान,

गौतमबुद्ध का निर्वाण, पाणिनि का व्याकरण, अशोक का धर्माचरण, कपिल का सांख्य, गौतम का न्याय, वाचस्पति मिश्र का षडदर्शनों पर भाष्य, मंडन मिश्र का शंकराचार्य से शास्त्रार्थ और चाणक्य की नीति इसका पुष्ट प्रमाण है। इसके बाद प्राकृत भाषा की भी ख़ासी उन्नति हुई। मागधी की महिमा कौन नहीं जानता? पर मेरा संबंध तो हिंदी से है। इसलिये अब देखना यह है कि बिहार ने हिंदी के लिये क्या किया। जहाँ तक मैंने देखा, उससे तो निराश होने का कोई कारण नहीं देखता। हमारा बिहार-प्रदेश हिंदी-सेवा में किसी प्रदेश से किसी प्रकार कम नहीं है। यदि युक्त-प्रांत को अपने लल्लूलाल का अभिमान है, तो बिहार को भी अपने सदल मिश्र का गर्व है। सदलमिश्र कविवर लल्लूलाल के समसामयिक और आरे के रहनेवाले थे। लल्लूलाल ने "प्रेमसागर" लिख जिन दिनों वर्तमान हिंदी की नींव डाली थी, उन्हीं दिनों हमारे सदल मिश्र ने भी "चंद्रावती" लिखकर बिहार का गौरव बढ़ाया था। अभी तक इसके पढ़ने का सौभाग्य मुझे प्राप्त नहीं हो सका; पर सुना है कि पुस्तक अच्छी, और भाषा भी साफ़ है। इसके बाद भी हम देखते हैं कि बिहार हिंदीसेवा से वंचित नहीं है। यहाँ के जमींदार और रईसों ने समय-समय पर बिहार के गौरव बढ़ाने का उद्योग किया है। सबसे पहले डुमराँव के श्रीयुत महाराजकुमार शिवप्रकाशसिंहजी का शुभ नाम याद आता है। इन्होंने तुलसीदास की "विनयपत्रिका" पर "रामतत्वबोधिनी" नाम की टीका लिखी है। इसके सिवा "सत्संगविलास", "लीला-रसतरंगिणी", "भागवततत्वभास्कर", "उपदेशप्रवाह" और "वेदस्तुति" की टीका इनकी रचनाएँ हैं।

तारणपुर-निवासी बाबू हितनारायणसिंहजी की मृत्यु सं०१८६६ ई० में हुई। यह बड़े स्वदेशप्रेमी थे। कविता भी करते थे। यह स्वदेशी वस्तु का व्यवहार अच्छा समझते थे। आपका उपदेश है—

"बनी यहाँ की वस्तु जो, ताकर करु सन्मान;
अपर देश की वस्तु तें, होत यहाँ अति हान।
कृषी-कर्म, वाणिज्य पुनि, शिल्प अधिक उर आन;
महराठिन की रीत पर, सजग होहु मतिमान॥"

इत्यादि।

ब्राह्मण-क्षत्रियों की बात जाने दीजिए। विहार के शूद्र भी सरस्वती माता की सेवा करते थे। छपरे के ठाकुर कवि इसके प्रमाण हैं। यह मधेसिया काँदू थे। यह पढ़े-लिखे तो साधारण ही थे, पर सत्संगी होने के कारण कविता अच्छी करते थे। इनका एक पद सुनिए। देखिए, इसमें भक्ति कैसी कूटकूट कर भरी है, और भाषा भी कैसी भव्य है—

हरि मोहि सेवरी-सेवक कीजै।
पादोदक प्रहलाद दैत्य को, निश्चर नफर करीजै;
गनिका अनुग अजामिल अनुचर, गीध गुलाम गनीजै।
दास करो रविदास कविर को, सुपच पंगती लीजै;
"ठाकुर" ठौर ठाढ़ होइवे कों सदन-सदन मोहि दीजै।

मैथिल-कोकिल विद्यापति ठाकुर को कौन नहीं जानता? बंगाली इन्हें बँगला का आदि-कवि मानते हैं, और इन्हें बंगाली बनाने के लिये सदा चेष्टा करते हैं। इनकी कविता मैथिल बोली में होने पर भी हिंदी की संपत्ति है; क्योंकि मैथिल हिंदी-भाषान्तर्गत एक बोली है।

"करतल कमल नैन ढर नीर;
न चेतय समरन कुंतल चीर।
तुअ पथ हेरि-हेरि चित नहि थीर;
सुमरि पुरुब नेहा दगध शरीर।
करि का माधव साधव प्रान;
विरहि युवति माँग दरसन दान।
जल-मध कमल, गगन-मध सूर;
आँतर चान, कुमुद कत दूर।
गगन गरज मेघ, सिखर मयूर,
कत जन जानसि नेह कत दूर।
भनइ विद्यापति विपरित मान;
राधा-वचन लजायल कान्ह।"

भला इसे कौन हिंदी नहीं कहेगा ?

आप यह न समझें कि केवल व्रजभाषा की ही कविता विहार में होती थी। खड़ी बोली के कवि भी यहाँ हुए हैं। यही नहीं, खड़ी बोली की कविता को खड़ा करने में विहार ने पूरा उद्योग किया है। इसका श्रेय मुजफ्फरपुर के स्वर्गवासी बाबू अयोध्याप्रसादजी खत्री को है। बाबू साहब खड़ी बोली की कविता के बड़े भारी हिमायती थे। आपने ही पहले पहल खड़ी बोली के पद्य का संग्रह सन् १८८८ ई० में किया था। इसका संपादन फ्रेडरिक पिनकॉट साहब ने किया और लंडन की डबल्यु० एच० एलेन कंपनी ने इसे छापा था।

विहार के खड़ी बोली के कवि की कविता की भी चाशनी देख लीजिए। मुजफ्फरपुर-जिले के मानपुरा के बाबू लक्ष्मीप्रसाद स १८७६ ई० के "विहार-बंधु" में भारत की दशा का वर्णन करते हैं—

"जहाँ मंदिर थे खड़े, वाँ हैं काँटे उगजे;
बस्तियाँ बस गईं, शृगाल, खर औ शूकर से।
याँ के लोगों कि दशा, कैसी थी क्या कोई कहे;
लेखनी का हिया फट जाय जो लिखने बैठे।
आठ पख उनका असह दुख देख घटा रोती है;
सूर्य की ताप-ग्रसित छिन्न छटा होती है।"

पटनावासी बाबू महेशनारायण की कविता भी सन् १८७६ ई० के विहारबंधु में मिली है। यह कौन महेशनारायण हैं Maker of modern Bihar या दूसरे, मालूम नहीं। इनकी 'स्वप्न' नाम की कविता से कुछ अंश उद्धृत करता हूँ—

"मुख मलीन मृगलोचन शुष्क
शशि की कला में बहार नहीं थी;
लब दबे जौवन उभरे
रति की छटा रलार (?) नहीं थी।
गरब, हलब, अफ़सोस, उम्मीद
प्रेमप्रकाश, भय चंचल चित्त
थे यह सब रुख पर नुमायाँ उसके
कभी यह, कभी वह, कभी वह, कभी यह,
मुखचंद्र निहार, हो यह विचार—
कि प्रेम करूँ, दया दिखलाऊँ?"

ये पद्य कैसे हुए, यह बताने की अभी ज़रूरत नहीं। अभी तो यह दिखलाना है कि बिहार खड़ी बोली की कविताओं से खाली नहीं है, और वह कभी किसी बात में पीछे नहीं रहा है।

मुंगेर के जान साहब (John Christian) भी हिंदी में कविता करते थे। यह पादड़ी थे, इससे इनकी कविता का विषय ईसामसीह ही था; पर कविता अच्छी होती थी। इनकी मृत्यु सन् १८८८ ई० में हुई। "मुक्तिमुक्तावली" नाम की पुस्तक लड़कपन में देखी थी, उसकी एक पंक्ति अब तक याद है—

"मन मरन समय जब आवेगा, ईसू पार लगावेगा।"

बिहार के पं० केशवराम भट्ट हिंदी के अच्छे विद्वान् हो गए हैं। इन्होंने कई पुस्तकें लिखी हैं, जिनमें "हिंदी-व्याकरण" सबसे मुख्य है। वाजपेयीजी की हिंदी-कौमुदी को छोड़ इससे अच्छा दूसरा व्याकरण देखने में न आया। इनकी भाषा शुद्ध एवं सरस होती थी। यह "बिहार-बंधु" पत्र और प्रेस के स्वामी थे। बिहार में इनसे हिंदी का बड़ा प्रचार और उपकार हुआ है। "शमशाद-सौसन" और "सज्जाद सुंबुल" नाम के दो नाटक भी इन्होंने लिखे हैं।

वर्तमान गिद्धौर-महाराज के पूज्य पितृव्य स्वर्गीय म० कु० बाबू गुरुप्रसाद सिंहजी भी हिंदी के लेखक और कवि थे। "राज-नीति-रत्नमाला", "भारत-संगीत" और 'चुटकुला' नाम की तीन पुस्तकें इनकी लिखी हैं। चुटकुला फुटकल पद्यों का संग्रह है। गंगाजी के संबंध में इनकी एक कुंडलिया इस प्रकार है—

गंगाजी की विषमता लखि मो मन हरखात;
स्नातक पठयति स्वर्ग कों, आपु निम्न गति जात।
आप निम्न गति जानि, ताहि गिरि-शिखर पठावैं;
आप मकर आरूढ़, ताहि दै वृषभ चढ़ावैं।

आप सलिल-तनु धारि, ताहि दै दिव्य जु अंगा।
जगत-ईश करि ताहि, शीस चढ़ि विहरत गंगा॥"

मेरे ग्राम मलेपुर के रईस वैकुंठवासी बाबू छत्रधारीसिंहजी भी गाने योग्य पद बनाते थे, जो आज तक योंही पड़े हैं, छपे नहीं। इनके ज्येष्ठपुत्र मेरे सहपाठी बाबू अयोध्याप्रसादसिंह भी गद्य-पद्य लिखा करते थे। शोक की बात है कि दो साल हुए, इनका देहांत हो गया। "जय जगदंब" नाम की पुस्तिका में इनके बनाए फुटकल गीतों का संग्रह है।

इसी प्रकार विहार के बहुतेरे जमींदार हिंदी की सेवा करते थे, और कर रहे हैं। यदि खोज की जाय तो अभी और भी बहुत से लेखकों और सुकवियों का पता चल सकता है।

अन्य प्रांतों के जिन विद्वानों ने विहार में आकर हिंदी का प्रचार किया और भाषा भंडार भरा है, उनका उल्लेख न किया जाय, तो बड़ी भारी कृतघ्नता होगी। इनमें मुख्य पजनेश कवि, छोटूराम त्रिपाठी, अंबिकादत्त व्यास और रामगरीव चौबे हैं।

कुछ लोग समझते हैं कि पजनेस कवि छपरे के थे; पर 'कविता-कौमुदी' 'मिश्रबंधु विनोद,' और ग्रियरसन साहब के The Modern Vernacular Literature of Hindustan के अनुसार पजनेसजी पन्ने के तथा त्रिपाठीजी और व्यासजी बनारस के सिद्ध होते हैं। मि० काशीप्रसाद जायसवाल तो मिरजापुर के हैं ही।

अँगरेज़ी में ग्रियरसन और ओलढम साहब हैं, जिनका हिंदी से संबंध है। ग्रियरसन साहब ने तो हिंदी का उपकार करते हुए

अपकार ही किया है। इन्हीं के समय में नागरी के बदले अदालतों में कैथी अक्षर हुए, और आरंभिक शिक्षा की पुस्तकें कैथी में छपने लगी। बिहार प्रांत की भोजपुरी, मैथिली आदि बोलियों में पुस्तकें छपवाकर बिहारवासियों में इन्होंने फूट का बीज बो दिया, जिसका फल मैथिल सभा से हिंदी का बहिष्कृत होना है। हमारे मैथिल भाई भ्रम-वश देश की हानि कर रहे हैं। हमारा सानुरोध निवेदन है कि वे लोग जल्दी न करें। जो कुछ करें, सोच-समझकर करें। धन्यवाद है ओलढम साहब को, जिनकी कृपा से अदालत के कागज़-पत्र कैथी के बदले फिर नागरी में छपने लगे हैं।

बेली-पोइट्री-प्राइज-फण्ड

बँगाल के छोटेलाट बेली साहब की यादगार में खैरे के राजा रामनारायणसिंह के रुपए से मुंगेर का बेली-पोइट्री-प्राइज-फंड स्थापित हुआ है, जिससे प्रतिवर्ष निर्दिष्ट विषय पर सबसे अच्छी कविता करनेवाले दो विद्यार्थियों को २५) और १०) पुरस्कार में मिलते हैं। सन् १८९६ ई० में इसका प्रथम पुरस्कार पाने की प्रतिष्ठा मुझे भी प्राप्त हुई थी।

सभा--समितियाँ

सभा-समितियों से भी हमारा बिहार वंचित नहीं है। आरा-नागरीप्रचारिणीसभा, लहेरियासराय-हिंदीसभा और भागलपुर-हिंदीसभा मंद गति से अपना-अपना कर्तव्य पालन कर रही हैं। भागलपुर की सभा ने गोस्वामी तुलसीदासजी के काव्यों की परीक्षा जारी कर अच्छा काम किया है। इससे तुलसीदास की कविताओं का प्रचार होगा, लोग उन्हें पढ़ेंगे और पारंगत होंगे। आरे की

सभा भी यथासाध्य हिंदी-प्रचार का उद्योग करती है। ज़रा और उत्साह दिखाया जाय, तो अच्छा हो। दुःख की बात है कि विहार की राजधानी पटने में हिंदी की एक भी शक्तिशालिनी सभा नहीं। क्या पटनेवाल यह अभाव दूर न करेंगे ?

पुस्तकालय

बाँकीपुर की "खुदाबख्श-लाइब्रेरी"-सा एक भी हिंदी-पुस्तकालय विहार में नहीं। यह विहार के हिंदुओं के लिये विचारने की बात है। आँसू पोंछने के लिये आरा-नागरीप्रचारिणीसभा का पुस्तकालय, लहेरियासराय का पुस्तकालय, भागलपुर का पुस्तकालय, बाँकीपुर का चैतन्य-हिंदीपुस्तकालय, पटने का बराहमिहिर-पुस्तकालय, और गया का मन्नूलाल—'पुस्तकालय अवश्य हैं। सुना है, मन्नूलाल-पुस्तकालय में प्राचीन हस्त-लिखित ग्रंथों और नवीन पुस्तकों का अच्छा संग्रह है।

छापाखाना

विहारबंधु प्रेस और ग्रेंचबोधोदय प्रेस बाँकीपुर में पहले थे। यहीं हिंदी की पुस्तकें छपती थीं। सन १८८० के आसपास स्वर्गवासी म० कु० बाबू रामदीनसिंहजी ने खड्गविलास प्रेस खोला था, जो प्रतिदिन उन्नति करता जाता है। इससे बहुत-सी पुस्तकें प्रकाशित हुईं। क्षत्रियपत्रिका आदि मासिक पत्रिकाएँ निकलीं, जो अब बंद हैं। साप्ताहिक शिक्षा आजकल निकल रही है। ग्रियरसन साहब की मानस-रामायण पहले पहल यहीं छपी थी। कहा जाता है, यह तुलसीदासजी की हस्त-लिखित प्रति से मिलाकर छापी गई है। भारतेन्दु और प्रतापनारायण मिश्र के ग्रंथों का स्वत्व इसी को प्राप्त है; पर प्रेस के मालिकों की ढील या उदासीनता

के कारण इन पुस्तकों का जैसा चाहिए, वैसा प्रचार नहीं हुआ। अब इधर ध्यान देने का समय आगया है।

भारतेन्दु-ग्रंथावली की तरह और ग्रंथकारों के ग्रंथों का शीघ्र ही सस्ता संस्करण हो जाना चाहिए। खड्गविलास प्रेसवालों को गुजरात की 'सस्तु साहित्य-प्रचारक-मंडली' का अनुकरण करना चाहिए। यह मंडली अच्छी-अच्छी पुस्तकें छापकर सस्ते दामों में बेचती है। इससे गुजराती साहित्य को बहुत लाभ पहुँचा है।

इसके बाद फिर धीरे-धीरे बहुत से प्रेस खुलते जाते हैं। भागलपुर के विहार-एंजल-प्रेस और मुजफ्फरपुर के रत्नाकर प्रेस ने हिंदी की कुछ पुस्तकें बड़ी सफ़ाई के साथ छापी हैं। पर हर तरह की छपाई का काम करनेवाले प्रेस की अभीतक कमी है।

समाचारपत्र

समाचारपत्रों की अवस्था संतोषजनक नहीं। बाँकीपुर से निकलनेवाला विहार का ही क्यों, हिंदी भाषा का सबसे पुराना पत्र "विहार-बंधु" बंद हो गया। यह बड़े खेद की बात है। इसके जिलाने का फिर उपाय होना चाहिए। इसी तरह चंपारन की "चंपारण-चंद्रिका", छपरे का "सारण-सरोज" और "नारद", पटने का "खत्री-हितैषी", "भारत रत्न", "हरिश्चंद्रकला", "क्षत्रिय पत्रिका" और "हिंदी विहारी", भागलपुर का "पीयूष-प्रवाह", "श्री-कमला", "आत्म-विद्या" और "यंग विहार", आरा का "मनोरंजन", मुजफ्फरपुर का "सत्ययुग", राँची का "आर्यावर्त" और "नागरीप्रचारिणी-पत्रिका," मोतिहारी की "कुसुमांजलि" आदि पत्र और पत्रिकाएँ एक-एक कर निकलीं, और बंद हो गईं। यह विहार के लिये बदनामी की बात है।

अब साप्ताहिक पत्रों में "पाटलिपुत्र", "तिरहुत समाचार", "मिथिलामिहिर" और "शिक्षा" है। "सर्च-लाइट" का हिंदी क्रोड़पत्र भी निकलता है; पर इनमें 'पाटलिपुत्र' ने ही हथुआ महाराज का होकर भी निर्भीकता के साथ राष्ट्रपक्ष का समर्थन किया और विहार को जगाया है। 'शिक्षा' तो विद्यार्थियों को बस शिक्षा ही देती है। "मिथिलामिहिर" मेहरबानी कर हिंदी को अंधकार में रख, मैथिली पर ही प्रकाश डालता है।

मासिक पत्रिका में बस "लक्ष्मी" का नाम लेना अलम् है। विहार में दैनिक पत्र का अभाव बेतरह खटकता है।

प्रजाबंधु

धन्यवाद है पं० जीवानंद शर्मा को, जिन्होंने इस अभाव को दूर करने के लिये "प्रजाबंधु" नाम की लिमिटेड कंपनी बनाई है, और उसके चलाने का वह पूरा उद्योग कर रहे हैं। हिंदीप्रेमी और देशानुरागी मात्र को इस देशहित-कार्य में पंडितजी की पूरी सहायता करनी चाहिए। इससे दैनिक पत्र और अच्छे प्रेस का अभाव मिट जायगा, ऐसी आशा है।

नाटक-मंडली

साहित्य की उन्नति और प्रचार के लिये नाटक-मंडलियों की भी आवश्यकता होती है। आनंद की बात है कि मुजफ्फरपुर, छपरे और मोतीहारी में नाटक-मंडलियाँ हैं, और शायद भागलपुर में भी है।

पाठ्य पुस्तकें

सन् १८७५ ई० के बाद विहार के स्कूलों में हिंदी का प्रवेश

हुआ। उस समय युक्तप्रांतवालों की ही बनाई पुस्तकें स्कूलों में पढ़ाई जाती थीं। राजा शिवप्रसाद का "गुटका" यहाँ भी गटका जाता था। सन् १८७२ ई० के लगभग फ़ैलन साहब विहारप्रांत के स्कूलों के इन्सपेक्टर हुए। इन्होंने विहार में ही पाठ्य पुस्तकें लिखवाने का प्रथम प्रयत्न किया, और उसमें सफलता भी हुई। इनके बाद स्वर्गवासी भूदेव मुकर्जी इंसपेक्टर हुए। इनकी सहायता से बहुत-सी नई-नई पुस्तकें लिखी गईं, और प्रकाशित हुईं। फिर तो खड्गविलास प्रेस से धड़ाधड़ पाठ्य पुस्तकें निकलने लगीं, और निकल रही हैं। इधर मेकमिलन कंपनी के सिवा ग्रंथमाला-कार्यालय और 'पाटलिपुत्र' के मैनेजर ने भी पाठ्य पुस्तकें प्रकाशित की हैं। अब तक जितनी पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं, उनमें अधिकांश रद्दी और भद्दी हैं। विहार-प्रांत के सहज भाषा दोष इनमें अधिकता से पाए जाते हैं। इनसे बड़ी हानि होती है। भूल-भरी पुस्तकें पढ़कर लड़कों का भूल करना स्वाभाविक है। पीछे लाख समझाने पर भी वह दोष दूर नहीं होता। एक बार एक लड़के ने लिखा-"मुशलाधार वृष्टि होती थी।" मैंने कहा—"मूसलधार कहो, मुशलाधार नहीं।" उसने कहा मेरी पुस्तक में तो "मुशलाधार" ही लिखा है। यह कह उसने पुस्तक दिखा दी। उसका कहना ठीक निकला। मैंने लाख समझाया; पर वह छपी पुस्तक के सामने मेरी बात क्यों मानने लगा ? ऐसी-ऐसी बहुत-सी भूलें दिखलाई जा सकती हैं ! इसलिये पुस्तक-प्रकाशकों से मेरा अनुरोध है कि वे चढ़ाऊपरी कर शिक्षा का उद्देश्य नष्ट न करें। यदि पाठ्य पुस्तक शुद्ध छपें, तो "विहारी हिंदी" का नाम ही न रहे। Baboo's English की बहन "बिहारी हिंदी" है।

अदालती भाषा

बिहार की अदालती भाषा और लिपि, दोनों ही विचित्र हैं। अदालत में तो ऐसी भाषा और लिपि बरती जानी चाहिए, जो सर्वसाधारण की समझ में आवे—गँवार देहाती भी बिना किसी की मदद के समझ ले। पर यहाँ मामला ही दूसरा है। देहातियों की कौन कहे, अदालती कागजों के पढ़ने में बड़े-बड़े शहरियों की भी नानी मर जाती है। अक्षर कैथी, और भाषा फ़ारसी—एक तो गिलोय, दूसरे नीम चढ़ी। फ़ारसी-ज़बान की शिकायत की नीयत से मैं यह नहीं कह रहा हूँ, बल्कि इसलिये कह रहा हूँ, जिसमें अदालती कागज़-पत्र समझने में देहात के हिंदू-मुसलमानों को दूसरे का मुँह न देखना पड़े। अदालत में मुंशी और मौलवी ही नहीं, गरीब गँवार भी जाते हैं, जो इस्तग़ासा, दरोग़हलफ़ी, जायदाद मुस्तरक़ा, ज़रसमन, जायदाद मनकूला और गैर मनकूला का नाम सुनते ही डर जाते हैं। मतलब समझना तो दूर रहा, इन्हें वह अच्छी तरह दुहरा भी नहीं सकते। एक भले आदमी को मैंने तसफ़ीया को 'तपसिया' कहते सुना है। गरीबों का बड़ा उपकार हो, यदि कैथी के बदले नागरी, और फ़ारसी के बदले सीधी-सादी बोली का व्यवहार अदालत में होने लगे।

अनुकरणीय दान

भागलपुर के श्रीयुत पं० भगवानप्रसादजी चौबे ने एक बहुमूल्य भवन बनवाकर हिंदी-सभा और पुस्तकालय के लिये हिंदी-माता के नाम पर दान कर दिया है। आशा है, सर्वत्र इसका अनुकरण होगा।

लेखक और कवि

लेखक और कवियों की संख्या भी उंगलियों पर गिनने के योग्य है। अँगरेज़ी के विद्वान् तो हिंदी को Stupid समझते, और संस्कृत के पंडित भाखा कहते तथा घृणा करते हैं। फिर लेखक आवें कहाँ से ? पर हवा बदली है। श्रीमान् गाँधीजी के प्रभाव से हमारे वकील भाइयों का ध्यान हिंदी की ओर झुका है। आशा है, और लोग भी शीघ्र ही राह पर आवेंगे। यह आनंद की बात है, कि अबके दरभंगे की विहार-प्रांतीय परिषद् में हिंदी को प्रधान स्थान मिला था। इसके लिये प्रशंसा करनी चाहिए परिषद की अभ्यर्थना-समिति के अध्यक्ष पं० भुवनेश्वर मिश्र की, जिन्होंने अपना भाषण हिंदी में लिखा और पढ़ा था। यदि इसी प्रकार प्रत्येक परिषद में हिंदी को स्थान मिले, तो देश का बहुत कुछ कल्याण हो सकता है। विहारी छात्र-सम्मेलन भी श्रीमान् गाँधीजी की आज्ञा का पालन कर हिंदी को ही अपने सम्मेलन में स्थान दिया करे, तो बड़ा उपकार हो। अँगरेज़ी पढ़ों में बाबू ब्रजकिशोर-प्रसाद, राजेन्द्रप्रसाद, पाँड़े जगन्नाथप्रसाद, बदरीनाथ वर्म्मा, गोकुलानंदप्रसाद वर्म्मा, पं० राधाकृष्ण झा, गिरीन्द्रमोहन मिश्र, भुवनेश्वरी मिश्र, हरनंदन पांड़े, लक्ष्मीप्रसाद, ब्रजनंदनसहाय, गयाप्रसाद सिंह, कालिकाप्रसाद, सुपार्श्वदास आदि हिंदी-भाषा का आदर करते और उसमें लिखते-पढ़ते हैं। बाबू रघुवीरनारायण भी Golden Ganga के साथ "सुंदर सुभूमि मैया भारत के देस-वासे मोरे प्रान बसे हिम खोह रे बटोहिया" भी कह रहे हैं। इसी प्रकार संस्कृत के विद्वानों में पं० रामावतार शर्मा, अक्षय-बट मिश्र, शिवप्रसाद पांडेय, जीवानंद शर्मा, सकलनारायण

शर्मा हिंदी लिखने और बोलने में अपना गौरव समझते हैं।

विहार के वर्तमान बयोवृद्ध हिंदी-सुलेखकों और सुकवियों में पं० विजयानंद त्रिपाठी, पं० चंद्रशेखरधर मिश्र, बाबू शिवनंदन सहाय और बाबू यशोदानंदन अखौरी आदि विशेष उल्लेख्य हैं। बाबू शिवनंदन सहाय ने भारतेन्दु और तुलसीदास के बृहज्जीवन-चरित लिखकर बिहार का गौरव बढ़ा दिया है।

मुसलमान

बिहार की एक विचित्रता यह भी है कि यहाँ के मुसलमान भी हिंदी से प्रेम रखते और हिंदी लिखते-पढ़ते हैं। इनमें सबसे पहले मिस्टर हसनइमाम का नाम याद आता है। यह हिंदी के हिमायती हैं। बेतिया के पीरमुहम्मद मूनिस और मुजफ्फरपुर के मुहम्मद लतीफ़ हुसेन हिंदी के प्रेमी ही नहीं, लेखक भी हैं। मलेपुर के खैरुल्ला मियाँ भी हिंदी में पद्य बनाते और समस्या-पूर्ति करते हैं।

जिन साहित्य-सेवियों के नाम छूट गए हों, उनसे क्षमा चाहता हूँ।

भाषादोष

यह सब होने पर भी लोग बिहारियों पर यह दोष लगाते हैं, और ठीक लगाते हैं कि बिहारवाले हिंदी के लिंग-प्रकरण और 'ने' विभक्ति पर बड़ा अत्याचार करते और उच्चारण भी ऊटपटांग करते हैं। पर मेरी समझ से इन दोषों के दोषी प्रायः सभी प्रांतवाले हैं। मैं अपने "हिंदी-लिंग-विचार"-नामक लेख में कह चुका हूँ; कि "अगर बिहार में "हाथी विहार करती है" तो पंजाब में "तारें आती

हैं," और युक्तप्रांत के काशी-प्रयाग में लोग "अच्छी शिकारें मारकर लंबी सलामें" करते हैं। अगर विहार में "दही खट्टी होती है", तो मारवाड़ में "बुखार चढ़ती और जनेऊ उतरतो है"। विहार में "हवा चलता है", तो झालरापाटन में "नाक कटता"है, और मुरादाबाद में "गोलमाल मचतो" है। अगर पटने में "बाजाड़ के कड़ले की तड़काड़ी से पेट में दड़द होता है", तो पंजाब में "मंद्र के अंद्र बंद्र वैठता है", और आगरे-ज़िले में "बुज्जपर फस्सविछा उद्द के खेत में बद्द को मिच्च खिलाते" हैं। अगर तिरहुत में "सरक पर कोरा मारकर घोरा दौराया जाता है", तो बीकानेर में "अपने मतवल से चोर को कपड़ते हैं"। फिर विहार ही क्यों वदनाम है?

विहार में 'आप कहे' प्रयोग होता है, तो पंजाब में "आपने कहा हुआ", याने विहार में 'ने' की न्यूनता है, तो पंजाब में प्रचुरता। विहार में 'र' का 'ड़' और 'ड़' का 'र' हो जाता है, तो व्रजभाषा में 'र' का विलकुल लोप। इसलिए विहारियों को संतोष करना चाहिए। पर इसका यह यह अभिप्राय नहीं कि मैं इन दोषों का समर्थन करता हूं। ये वड़े भारी दोष हैं। इनसे जितनी जल्दी आप मुक्त हो जाँय, उतना ही अच्छा। तनिक ध्यान देने से ही आप शुद्ध प्रयोग कर सकते हैं। जो इस बात का ध्यान रखते हैं, उनसे ऐसी भूल वहुत कम होती है।

भाइयो, विहार ने हिंदीभाषा के लिये क्या किया और क्या कर रहा है, यही अब तक मैंने दिखाया है, हिंदी-साहित्य के संबंध में अभी तक कुछ नहीं कहा, और न कहने की आवश्यकता ही है; क्योंकि हिंदी-साहित्य का महत्त्व अब सब लोग जान चुके हैं, और हिंदी को राष्ट्रभाषा भी मान चुके हैं। अब फिर पिसे को पीसने

की क्या ज़रूरत ? हाँ, इतना अवश्य कहूँगा, कहूँगा क्या "सिंहाव-लोकन"-नामक पुस्तिका में कह चुका हूँ कि ईर्षा, द्वेष, हठ, दुरा-ग्रह और पक्षपात के कारण लोग अपनी-अपनी खिचड़ी पका रहे हैं। कोई तीर घाट जाता है, तो कोई मीर घाट। कोई व्याकरण का बहिष्कार करता है, तो कोई कोष का कायाकल्प। कोई हिंदी की चिंदी निकालता है, तो कोई काव्यकलेवर को कलुषित करता है। कोई वर्णविन्यास का विपर्यय करता है, तो कोई शैली का सत्यानाश। उल्था करने में भी उलट-पलट का चर्ख़ा चलता है। बँगला की बू, मराठी की महक और गुजराती की गंध से हिंदी का होशहवास गुम है। अँगरेज़ी की आँधी ने तो और भी आफ़त ढाई है। मुहावरों का मूँड़ इस तरह मूँड़ा जाता है कि उन्हें मुँह दिखाने का मौक़ा ही नहीं। नाटक का फाटक बंद है, पर उपन्यास का उपद्रव बढ़ रहा है। कोई हिंदी में विंदी लगाता है, तो कोई विभक्ति का विच्छेद करता है। कोई खड़ी बोली खड़ी करता है, और कोई ब्रजभाषा का नामोनिशान मिटाने का सामान जी-जान से करता है। कोई संस्कृत के शब्दों की सरिता बहाता है, और कोई ठेठ हिंदी का ठाट बनाता है। मतलब यह कि सभी अपनी-अपनी धुन में लगे हैं। कोई किसी की नहीं सुनता। नाई की बारात में सभी ठाकुर हो रहे हैं।"

ऐसी अवस्था में कहिए, मैं किसे लूँ, और किसे छोड़ूँ ? सभी आवश्यक विषय हैं, और सब पर बहुत-कुछ कहा-सुना जा सकता है। पर समय स्वल्प, और बातें बहुत हैं। इसलिये इन विषयों को पटने में होने वाले सम्मेलन के लिये रख छोड़ता हूँ।

एक बात और निवेदन कर मैं अपना भाषण समाप्त करूँगा।

बिहार मेरी पितृभूमि नहीं, मातृभूमि है; जन्मभूमि नहीं, कर्म-भूमि है। इसके अन्न, जल और वायु से मेरा यह नश्वर शरीर शाभायमान है। यहीं मेरो शिक्षा-दीक्षा-परीक्षा हुई है। इसलिये मैं बिहारी न होकर भी बिहारी हूँ, और इसके द्वार का भिखारी हूँ। यह मेरी जननी की जन्मभूमि है, इसलिये इसकी सेवा करना अपना कर्म और धर्म समझता हूँ। आज आप मुझे सभापति-रूप से नहीं, सभासद्-रूप से बुलाते, तो मुझे अधिक आनंद होता। आपने आज मेरा जो कुछ सम्मान और स्वागत किया है, वह मेरा नहीं, सरस्वती-सेवक का किया है। जो हो, आपकी कृपा और दया के लिये आपको बारंबार धन्यवाद देता हूँ, और हृदय से कृतज्ञता प्रकाश करता हू। परमात्मा से प्रार्थना है कि आप सदैव सरस्वती-सेवकों और साहित्यसेवियों का सम्मान और स्वागत किया करें।

प्यारे नवयुवको, कुछ तुमसे भी हृदय की बातें कहनी हैं। मुझे तुम्हारा ही भरोसा है, और तुमसे ही मेरी अपील है। अब बिहारभूमि की, भारतभूमि और मातृभाषा राष्ट्रभाषा हिंदी की लज्जा तुम्हारे हाथ है। तुम चाहो, तो शीघ्र इसका दुःख दूर हो सकता है। देखो, कैसी करुणाभरी दृष्टि से माता तुम्हारी ओर देख रही है! क्या इसकी सहायता न करोगे? इसी तरह दीन-हीन, तन-क्षीण एवं मन-मलीन रहने दोगे? इसे सुखी करना क्या तुम्हारा धर्म नहीं है? तुम क्या अपने धर्म और कर्तव्य का पालन न करोगे? नहीं। ऐसा मत करो। उठो, कमर कसो, माता के उद्धार का बीड़ा उठाओ। तन-

मन-धन-जन से माता की सेवा करो। अगर उसकी सेवा में प्राण भो जायँ, तो उसकी परवा न करो। याद रक्खो, तुम किसीसे किसी बात में कमज़ोर नहीं हो। लेकिन न जाने क्यों तुम अपने को कमज़ोर समझ रहे हो। यह तुम्हारी भूल है। सिंह होकर शृगाल मत बनो। देखो, सिंह को जंगल का राजा किसने बनाया! उसके लिये कभी दरबार नहीं हुआ; पर वह मृगराज कहलाता है। सिंह अपने बाहुबल से मृगेंद्र बना है। इसी तरह तुम भी अपने बाहु-बल से माता के सच्चे सुपूत बनो, और माता का भाषा-भांडार ज्ञान-विज्ञान से भरो। क्या करना है, उसे भो सुन रक्खो—

(१) तुमने जो कुछ ज्ञान प्राप्त किया है या करोगे, उसे मातृभाषा द्वारा अपने देशवासियों को बांट दो। जहाँ जो अच्छी बातें मिलें, उन्हें अपनी भाषा में ले आओ। जापानी लोग अँग-रेज़ी पढ़ते हैं, और उसमें जो कुछ काम की चीज़ पाते हैं, उसे जापानी भाषा में उल्था कर लेते हैं। इससे जापानी साहित्य दिन दिन उन्नति करता जाता है। बंगाली, गुजराती और मरहठों नेभी यही करके अपने साहित्य की श्रीवृद्धि की है, और कर रहे हैं। तुम भी वही करो।

(२) हिंदीभाषा के प्रचार के लिये स्थान-स्थान पर पुस्तका-लय और वाचनालय खुलवाओ। विहार में इसका बड़ा अभाव है।

(३) जिस तरह कलकत्ता-विश्वविद्यालय ने बँगला, हिंदी आदि देशीभाषाओं में एम० ए० परीक्षा का प्रबंध किया है, उसी प्रकार पटना-विश्वविद्यालय में हिंदी को स्थान दिलाओ। कलकत्ता-विश्व-विद्यालय के भूतपूर्व वाइस चांसलर कलकत्ता-हाईकोर्ट के जज सर

आशुतोष मुकर्जी, सरस्वती, भी चाहते हैं कि भारत की सब युनिवर्सिटियों में एम० ए० की परीक्षा देशी भाषाओं में हो। हवड़ा-साहित्यसम्मेलन के सभापति होकर आपने अपने भाषण में कहा था—"बंबई, मद्रास, पंजाब, इलाहाबाद प्रभृति स्थानों के विश्वविद्यालयों को देशी भाषा में एम० ए० को परीक्षा चलानी होगी। केवल बंगाल में चलाने से Reciprocal पारस्परिक फल की संभावना बहुत थोड़ी है।" इसलिये पूरा प्रयत्न करो, जिसमें पटना विश्वविद्यालय की एम० ए० परीक्षा में हिंदी को स्थान मिले। इसके लिये उद्योग करना आवश्यक है।

(४) चौथा काम अनिवार्य शुल्क-रहित प्रारंभिक शिक्षाबिल को कार्य में परिणत करना है। इसके लिये पाठशाला स्थापित करना और नागरी अक्षरों में पुस्तकें छपवानी चाहिए।

(५) हिंदी लिखने, पढ़ने और बोलने का अभ्यास सबको कर लेना चाहिए, जिसमें सुधार संबंधी सब बातें अँगरेज़ी न जाननेवाले अपने भाइयों को अच्छी तरह समझा सको। देशहित के विचार से भी हिंदी का प्रचार करना आवश्यक है।

(६) अदालत में नागरी-अक्षरों और हिंदी-भाषा को जारी कराओ।

(७) जमीदारी कागज़-पत्र कैथी अक्षरों के बदले नागरी-अक्षरों में लिखवाओ। कैथी अक्षरों के पढ़ने में बड़ी तकलीफ़ होती है, और अकसर अर्थ का अनर्थ हो जाता है।

(८) प्रांतीय परिषदों और छात्रसम्मेलनों में देशी भाषा का व्यवहार कराना भी आप ही लोगों का काम है।

(९) हिंदीसाहित्य-सम्मेलन की परीक्षाओं में स्वयं सम्मिलित हो, और दूसरों को उत्साहित कर सम्मिलित कराओ। संस्कृत की

परीक्षाओं में हिंदी नहीं पढ़ाई जाती। इसलिये संस्कृत के पंडित हिंदी से कोरे रह जाते हैं। इसलिये संस्कृत-परीक्षाओं में हिंदी को प्रविष्ट कराना चाहिए।

यह सब कोई असम्भव काम नहीं। यदि हों भी, तो पुरुषार्थ से उन्हें सम्भव बना सकते हो। जिस देश के साहित्य में अर्जुन के "पाशुपत" अस्त्र प्राप्त करने का वर्णन है, जिस देश के साहित्य में प्रह्लाद के सामने खंबे से नृसिंह भगवान का आविर्भूत होना लिखा है, जिस देश के साहित्य में हनुमानजी के समुद्र लांघ जाने की कथा है, उस देश के निवासियों के लिये असम्भव या असाध्य कुछ नहीं। इसलिये उत्साह के साथ उठो, और हिंदीमाता का हित-साधन करो। आओ, आज माता के सामने हम लोग प्रतिज्ञा करें—

भए उपस्थित आज यहाँ पै, जो सब भाई;
करें प्रतिज्ञा अटल, यही निज भुजा उठाई।
हिंदी में हम लिखें-पढ़ें, हिंदी ही बोलें;
नगर-नगर में हिंदी के, विद्यालय खोलें।
हिंदी के हित-साधन में, नित ही चित देहैं;
अँगरेज़ी को भूलि सदा, हिंदी गुन गैहैं।
यह पन पूरो करें सदा, माधव मंगलमय;
हमहूँ कहें हिंदी, जय हिंदी, जय हिंदी जय॥

अभिभाषण *

"पदांग संधि-पर्वाणं स्वरव्यंजनभूषितम्;
यमाहुरक्षरं विप्रास्तस्मै वागात्मने नमः।"

जन्मभूमि जननी जनक, जन्हुसुता जगनाथ;
दुर्लभ पंच जकार हैं, इनहिं नवाओ माथ।

जो कुंदेन्दु-तुषार-हार सम सुंदर सोहति,
धवल कमल-आसीन सदा सुरगन मन मोहति।
सादर सीस झुकाय सारदा सुमिरौं सोई;
विमल विवेक-विचार-बुद्धि जाके बल होई।
बीना-पानी बानि करौ बानी कल्यानी;
ललित मनोरम भाव-भरी औ नव रस सानी।
हिंदी-हिंदहिं धारि हिये के ऊँचे आसन;
करि प्रनाम प्रारम्भ करौं अपनो अभिभासन।

स्वागतसिमिति के आदरणीय अध्यक्ष सहृदय समासदो, प्रेमी प्रतिनिधियो, भाइयो और बहिनो,—

---

* द्वादश हिंदी-साहित्य-सम्मेलन, लाहौर के सभापति की हैसियत से दिया गया भाषण (ज्येष्ठ शुक्ल १, शनि, संवत् १९७९)।

पाँच पानी से पखारे हुए पंजाब के प्रधान नगर लवपुर में हिंदीसाहित्य-सम्मेलन का समारोह वसंतऋतु के समय वास्तव में सोने में सुगंध ही नहीं, चंदन में फूल और ईख में फल के समान होता, शीतल-सुगंध-सुखद समीर सदानंद संदोह का संचार कर मनोमुकुल को प्रफुल्ल कर देता तथा सभी गद्गद और पुलकित हो साहित्य-चर्चा करते; पर इस समय तो—

"तपत प्रचंड मारतंड महि-मंडल मैं;
ग्रीपम की तीखन तपन आरपार है;
"गिरिधर" कहै काँच कीच-सो बहन लाग्यो,
नद-नदी-नीर मानो अदहन-धार है।
झपट चहूँहन तैं लपट लपेटी लुह,
सेस-कैसी फूँक पौन झूकन की झार है;
तावा-सी अटारी तपी, आवा-सी अवनि महा,
दावा-से महल औ पजावा से पहार हैं।"

फिर साहित्य-संलाप में मन कैसे संलग्न रह सकता है ? पर एक बात संतोष की है। कविवर विहारीलाल ने कहा है—

"कहलाने एकत बसत, अहि मयूर मृग बाघ;
जगत तपोवन सों कियो, दीरघ दाघ निदाघ।"

अर्थात्, इस भीष्म ग्रीष्म ने संसार को तपोवन बना डाला है। तपोवन में भेद-भाव नहीं रहता। इसीसे सर्प और मोर, हरिण और बाघ अपनी-अपनी शत्रुता भूलकर गर्मी से बेचैन हो एक जगह आ बैठे हैं। धन्यवाद है इस ग्रीष्म को जिसकी कृपा से आज यहाँ भी सब मतवाले एक मत हो मातृभाषा की सेवा-शुश्रूषा के लिये एकत्र हो गए हैं। वासंती वायु में यह बात कहाँ थी ?

परमात्मा से प्रार्थना है कि तपन-दमन के साथ सदा ग्रीष्म हो रहे, जिससे हम लोग भेद-भाव भूलकर देश-जाति का कल्याण करें, और कभी अलग न हों।

इसमें संदेह नहीं कि स्वागतसमिति ने श्रीयुत लाला हंसराजजी के रहते क्षीर को छोड़ नीर ग्रहण कर लिया है। न्यायशास्त्री पं० गिरिधर शर्मा ने ऐसा अन्याय क्यों होने दिया? क्या हरि और हर, दोनों ही अपना स्वरूप भूल गए? गोकुलचंदजी से कुछ न कहूँगा; क्योंकि वह नारँग हैं; पर टेकचंदजी तो अपनी टेक रखते। कंटूनमेंट में रहनेवाले मूलचंदजी भले ही मारशल लॉ जारी कर दें; पर देवर्षिरत्न रामजी से ऐसी आशा न थी।

समझ की भूल Error of judgement से जब जलियां-वाले बाग की लीला तक हो सकती है, तो "दारुभूत" जगन्नाथ को सम्मेलन का सभापति बना देना कौन बड़ी बात है? कहनेवाले ने ठीक ही कहा है—

"काचं मणिं कांचनमेक सूत्रे मूढ़ा निबध्नंति किमत्र चित्रम्;
विशेषवित् पाणिनिरेक सूत्रे श्वानं युवानं मघवानमाह।"

जब पंडिताग्रगण्य पाणिनि ने ही इंद्र, युवक और कुत्ते को एक सूत्र में बाँधा है, तब आप लोगों ने भी मुझे विबुधवरों के बीच बिठा दिया, तो कोई विचित्र बात नहीं। पर मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि

"मुअर्रा हूँ हुनर से मैं, सरापा ऐब हूँ अकबर;
इनायत है अहिब्बा की अगर अच्छा समझते हैं।"

अतएव इस अपार अनुग्रह के लिये कृतज्ञता-प्रकाश कर आप लोगों की आज्ञा शिरोधार्य करता हूँ।

जिन भारतभक्त हिंदी-हितैषी वीर-पुंगव लाला लाजपतरायजी ने गत वर्ष कलकत्ते में सम्मेलन के निमंत्रण का समर्थन किया था, वह कारागार-प्रवास कर रहे हैं। भारत में नवजीवन का संचार करनेवाले "हिंदी नवजीवन"-संपादक महात्मा गांधी कृष्णजन्मस्थान को प्रस्थान कर चुके हैं। इन दोनों महापुरुषों की अनुपस्थिति अत्यंत असह्य हो रही है। सम्मेलन के प्राण श्रीयुत पुरुषोत्तमदासजी टंडन अध्यापक रामदासजी गौड़, "पथिक" प्रणेता पं० रामनरेश त्रिपाठी, पं० कृष्णकांत मालवीय प्रभृति साहित्यिक सुहृद भी बंदीगृह में वास कर रहे हैं। इनका यहाँ न होना बेतरह खटकता है। वे यहाँ नहीं हैं; परंतु उनकी सहानुभूति सम्मेलन के साथ अवश्य है। अतएव यहीं से मैं उनका अभिनंदन करता हूँ।

सज्जनो,

"मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वती समाः;
यत्क्रौंच मिथुनादेकमवधीः काममोहितम्।"

से लेकर—

"एक साहब कह रहे थे चीख़-चीख़ युँ,
बोल गई माइ लार्ड कुकड़ू कूँ।"

तक साहित्य में कैसे-कैसे उत्थान-पतन, संशोधन-परिवर्तन, परिवर्द्धन, संस्थापन, उन्नति-अवनति, प्रवृत्ति-निवृत्ति, वृद्धि, ह्रास, विकास, आदि हुए, इसको विस्तारपूर्वक वर्णन करने के लिये समय और साधन सापेक्ष है। यहाँ न आपके पास इतना समय है, और न मेरे पास। इसके सिवा इन विषयों पर बहुत-कुछ कहा-सुना जा चुका है। अब पिसे को पीसना अनुचित प्रतीत होता है।

भारत के भाल की बिंदी इस हिंदी-भाषा की उत्पत्ति, व्युत्पत्ति, नामकरण तथा निरूपण आदि भी पूर्व सभापतियों के द्वारा गम्भीर गवेषणा सहित हो चुका है । इसलिये वर्तमान हिंदी-साहित्य की सम्यक् समालोचना ही साहित्यसेवियों के समक्ष समुचित होगी ।

पंजाब

महाशयो, इस पंचनद-प्रदेश के प्राचीन प्रबल प्रताप, प्रगल्भ पांडित्य और विश्व-विदित वेदज्ञान की विषद् व्याख्या व्यर्थ है; क्योंकि महामहिम महर्षियों का वेदों द्वार तत्वों का उद्घाटन, सिख-संप्रदाय द्वारा शत्रुओं का उत्पाटन, आर्य्यसभ्यता का भारत में विस्तरण, पंजाव-केसरी राजा रणजीतसिंह का सिख-साम्राज्य-संस्थापन, भारतभूमि के भाग्य का वारंवार निर्धारण, गुरु नानक का अवतार, गुरु गोविंदसिंह की नई शक्ति का संचार आदि इनका पुष्ट प्रमाण है । इसमें सदेह नहीं कि इस पंचनद प्रदेश के प्रभाव से ही आज भी भारतवर्ष का उत्कर्ष है, और भारत-वासी सगर्व सदा सिर उठाए रहते हैं ।

किंतु आजकल यहाँ हिंदी का प्रचुर प्रचार न देखकर लोग कहने लगे हैं कि पंजाव हिंदी-सेवा से पराङ्मुख है । आधुनिक अवस्था आक्षेप के योग्य हो सकती है; परंतु पंजाव की पूर्व परि-स्थिति ऐसी न थी । भला जो प्राचीन आर्यसभ्यता का जन्मस्थान और वेदज्ञान का उद्गमस्थान है, जिसे सिखों के आदि-गुरु महात्मा गुरु नानक की जन्मभूमि होने का गौरव है, जो भारत का मुख उज्वल करनेवाले गुरु गोविंदसिंह आदि सिखाचार्यों की कर्मभूमि है, और जहाँ सिख-साम्राज्य संस्थापित हुआ, वहाँ राष्ट्रभाषा हिंदी की सेवा न हो, ऐसा कदापि संभव नहीं; क्योंकि राष्ट्रीयता और

साहित्य का अन्योन्याश्रय शाश्वत संबंध है। साहित्य का उत्थान-पतन राष्ट्र के उत्थान-पतन से संबद्ध है। साहित्य की श्रीवृद्धि होने से राष्ट्र की भी श्रीवृद्धि होती है एक के बिना दूसरा अग्रसर नहीं हो सकता। यह बात हमारे सिखगुरु भलीभांति जानते थे। इसीसे उन्होंने राष्ट्रभाषा हिंदी का हाथ पकड़ा, और साथ दिया। प्रायः सभी सिखगुरु हिंदी के कवि थे, और अच्छी कविता करते थे। सिखों की 'वाणी' इसका प्रमाण है। बाबा नानक का उपदेश अब भी कानों में गूँज रहा है। भाषा कैसी साफ़ और भाव कैसा ऊँचा है। देखिए—

दोहा—

"नानक नन्हें हो रहो, जैसी नन्हीं दूब;
और घास जरि जाति है, दूब खूब की खूब॥"

और घास, तो लंबी और बड़ी होने पर भी धूप से जल जाती है; पर दूब पैरों के तले रौंदी जाती, काटी जाती, छाँटी जाती है, तो भी वह सदा बनी रहती है। सहनशीलता का कैसा अच्छा फल दिखाया है। और सुनिए—

"जागो रे जिन जागना, अब जागन की बारि;
फेर कि जागो नानका, जब सोवउ पाँव पसारि।"

गुरुजी कहते हैं जिन्हें जागना है, जागें। यही समय जागने का है। मर जाने पर क्या जागोगे?" बात भी कुछ ऐसी ही है। फिर कहते हैं—

"मन की मन ही माँहि रही;
ना हरि भजे, न तीरथ सेवे, चोटी काल गही।
दारा, मीत, पूत, रथ, संपति, धन-जन पूर्न मही;

और सकल मिथ्या यह जानो, भजना राम सही।
फिरत-फिरत बहुतै जुग हारयो, मानस-देह लही;
नानक कहत मिलन की बिरियाँ सुमिरित कहा नहीं।"

पाँचवें गुरु अर्जुनदेव की भी हिंदी-कविता सुन लीजिए—

"पाँच बरख को अनाथ ध्रू बालक,
हर सिमरत अमर अटारे;
पुत्र हेत नारायन के हो
जम कंकर मार बिदारे॥" इत्यादि

नवें गुरु तेगबहादुर के 'सबद' भी सुनने योग्य हैं—

"हरि का नाम सदा सुखदाई;
जाको सिमर अजामल उधरियो गनिका हू गति पाई।
पंचाली को राजसभा में राम-नाम सुधि आई;
ताका दुःख हरयो करुनामय अपनी पैज बढ़ाई।
जिह नर जस किरपानिधि गायो ताको भयो सहाई;
कहो नानक मैं इसी भरोसे गही आन सरनाई।"

भारत के गौरव दसवें गुरु गोविंदसिंहजी तो हिंदी के प्रतिभाशाली कवि थे। दुःख है, उनकी समस्त रचनाएँ नहीं मिलतीं। जो कुछ मिली हैं, उन्हीं से संतोष करना पड़ता है। उनकी कविता का भी रसास्वादन कर लीजिए। "अकाल उस्तति" से एक कवित्त सुनाता हूँ—

"निरगुन निरूप हो, कि सुंदर सुरूप हो,
कि भूपन के भूप हो कि दाता महादान हो;
प्रान के बचैया, दूध-पूत के दिवैया, रोग-
सोग के मिटैया किधौं मानी महामान हो।

विद्या के विचार हो कि अद्वैत औतार हो,

कि सिद्धता की सूर्त्त हो कि सुद्धता की सान हो;

जीवन के जाल हो कि कालहू के काल हो,

कि सत्रुन के साल हो कि मित्रन के प्रान हो।"

गुरूजी ने अपने "विचित्र नाटक" में खड्ग की क्या अच्छी स्तुति की है कि सुनने के योग्य है—

"खग खंड विहंडं, खलदल खंडं अति रनमंडं बरवंडम्;
भुजदंड अखंडं, तेज-प्रचंडं जोति-अभंडं भानु प्रभम् ।
सुख-संतां-करणं, किलबिख-हरणं दुरमति-दरनं असि सरणम्;
जै जै जग-कारण, सृष्टि-उबारण मम मति-पारण जै तेगम् ।"

जरासंध के युद्ध का वर्णन भी सुन लीजिए—

"यों सुनिकै बतियाँ तिंह की,

हरि कोप कह्यो हम जुद्ध करैंगे;

बान, कमान, गदा गहिकै

दोउ भ्रात सबै अरि सैन हरैंगे।

सूर-सिवादिक ते न भजैं,

हनिहैं तुमको नहिं जूझ परैंगे;

मेरु हलै, सुखिहैं निधिवार

तऊ रन की छिति ते न टरैंगे।"

सिख-गुरु ही नहीं, अन्यान्य साधु-संन्यासियों ने भी हिंदी में काव्यरचना की है। इनमें सबसे पहले गोलोकवासी नारायण स्वामी का नाम स्मरण आता है। स्वामीजी के पदों में कैसा भक्तिरस, लालित्य और माधुर्य है, यह कहा नहीं जाता। भाषा भी कैसी भव्य है। सुनिए—

"नारायन व्रजभूमि को, सुरपति नावैं माथ;
जहाँ आय गोपी बने, श्रीगोपेश्वरनाथ ।
श्रीगुरु-चरन-सरोजरज, बंदौं बारंबार;
नारायन भव-सिंधु हित, जे नौका सुखसार।
जाके मन में बस रही, मोहन की मुसिक्यान;
नारायन ताके हिये, और न लागत ज्ञान।
अजा पुत्र मैं-मैं कहत, दिए आपने प्रान;
नारायन मैंना भली, खाय मलीदा सान ।"

व्रजभाषा ही नहीं, खड़ी बोली के कवि भी पंजाब में हुए हैं। स्वामी रामतीर्थजी की रचनाएँ अपने ढंग की निराली हैं। इनके प्रत्येक पद से परमात्मा का प्रेम और देशानुराग टपकता है। कुछ पंक्तियाँ उनकी भी सुनाता हूँ—

"हम रूखे टुकड़े खाएँगे; भारत पर वारे जाएँगे।
हम सूखे चने चबाएँगे; भारत की बात बनाएँगे।
हम नंगे उम्र बिताएँगे; भारत पर जान मिटाएँगे।
शोलों पर दौड़े जाएँगे; काटों को राख बनाएँगे ।
हम दर-दर धक्के खाएँगे; आनँद की झलक दिखाएँगे।
सब रिश्ते नाते तोड़ेंगे; दिल एक आत्म सँग जोड़ेंगे।
सब विपयों से मुँह मोड़ेंगे; सिर सब पापों का फोड़ेंगे।"

क्षत्रिय को लक्ष्य कर स्वामीजी कहते हैं—

"धर्म की आन पर है जान क़ुर्बान;
गीदी बनकर न हो कभी हैरान ।
वही क्षत्रिय है राम का प्यारा,
देश पर जिसने जान को वारा।"

कवि ही नहीं, गद्य-लेखक भी पंजाब में अच्छे-अच्छे हुए, और हैं। सबका सविस्तर वर्णन न कर कुछ चुने हुए लोगों की कुछ चर्चा कर देता हूँ। स्वामी निश्चलदास ने 'विचार-सागर' और "वृत्ति-प्रभाकर"-नामक प्रसिद्ध वेदांत-ग्रंथ हिंदी में लिखे हैं। इनके बारे में मैं अपनी ओर से कुछ न कह एक बंगाली सज्जन की उक्ति उद्धृत कर देता हूँ। बंगाल के परलोकवासी प्रसिद्ध देश-भक्त बाबू मनोरंजन ठाकुर अपनी "निर्वासित कहानी" में लिखते हैं—"प्रायः ३ सौ वर्ष पहले स्वामी निश्चलदास ने "विचार-सागर" और "वृत्ति-प्रभाकर" की रचना की थी। वृत्ति-प्रभाकर बड़ा चमत्कारिक ग्रंथ है। वर्तमान बंगभाषा के वैभवशालिनी होने पर भी इस श्रेणी के ग्रंथ उसके भांडार में नहीं पाए जाते।"

पं० श्रद्धाराम फिल्लौरी ने 'सत्यामृत-प्रवाह', "भाग्यवती" आदि पुस्तकें हिंदी में लिखी थीं, जिनका तीस-चालीस वर्ष पहले बड़ा आदर था।

पं० आर्यमुनि ने छः शास्त्रों, उपनिषदों और गीता का हिंदी में उल्था किया है। पं० राजाराम शास्त्री ने भी संस्कृत-ग्रंथों का हिंदी में भाषांतर किया है।

पं० हरमुकुंद शास्त्री ने कलकत्ते के "भारतमित्र" का संपादन योग्यता के साथ आरंभ में बहुत दिनों तक किया। बाबू नवीन-चंद्रराय ने बंगाली होकर भी हिंदी की अच्छी सेवा की। इनकी पुत्री श्रीमती हेमंतकुमारी देवी आज भी हिंदी की सेवा करती हैं, और प्रायः संमेलन में संमिलित होती हैं। स्वामी सत्यदेव भी अमेरिका की "आश्चय जनक घंटी" से हिंदी का हितसाधन कर रहे हैं।

वर्तमान लेखकों में अध्यापक रामदेवजी और भाई परमानंद-जी विशेष उल्लेख्य हैं। स्वामी श्रद्धानंदजी ने काँगड़ी में गुरुकुल स्थापित कर हिंदी का हितसाधन किया है। वहाँ हिंदी द्वारा सब प्रकार की शिक्षा दी जाती है।

आर्यसमाज ने भी हिंदी का अच्छा प्रचार किया है। स्वामी दयानंदजी के "सत्यार्थप्रकाश" से हिंदी-प्रचार में अच्छी सहायता मिली। आर्यसमाज के उपदेशकों ने जैसे हिंदी का प्रचार किया, वैसे ही सनातन-धर्म के उपदेशकों ने भी किया। श्रद्धेय पूज्य पंडित दीनदयालु शर्मा की वाणी ने भी हिंदी-प्रचार में बड़ा काम किया। आपने काश्मीर से कलकत्ते, और मद्रास से मुम्बई तक हिंदी का डंका बजा दिया है। डी० ए० वी० कॉलेज, सनातन-धर्म कॉलेज, दयालसिंह कॉलेज, हिंदूकन्याविद्यालय और जालंधर-कन्यामहाविद्यालय में हिंदी को स्थान मिला है।

मित्र-विलास, हिंदू-बाँधव, भारत-भगिनी, स्वदेशबंधु, प्रभात, ऊषा, चाँद, पांचालपंडिता, सद्धर्म-प्रचारक, इन्दु, स्वदेशवस्तु-प्रचारक, ब्रह्मविद्या-प्रचारक आदि पत्र-पत्रिकाएँ निकलीं; परंतु खेद है, एक-एक कर सब बंद हो गईं! पंजाब में आजकल बस "ज्योति" की ज्योति है। इसका संपादन श्रीमती विद्यावती सेठ करती हैं।

हिंदी की वर्तमान दशा

सज्जनो, अब हिंदी की वर्तमान दशा के संबंध में कुछ निवेदन करता हूँ। इसमें संदेह नहीं कि इधर दस-बारह वर्षों से हिंदी ने आशातीत उन्नति की है, और कर रही है। प्रायः सब प्रांतों में इसका प्रचार दिन-प्रति-दिन बढ़ता जा रहा है। देश के प्रायः सब

विद्वानों ने इसे राष्ट्र-भाषा स्वीकार कर लिया है, और करते जाते हैं। राजनीति, अर्थशास्त्र, इतिहास, तथा काव्य आदि विविध विषय की नित्य नई पुस्तक-पुस्तिकाएँ धड़ाधड़ निकल रही हैं, जिनकी छपाई-सफ़ाई और कागज की बड़ाई जितनी की जाय, थोड़ी है। राजनीति और असहयोग की जितनी पुस्तकें हिंदी में प्रकाशित हुई हैं, उतनी शायद किसी दूसरी भाषा में नहीं हुई। सचित्र और अचित्र मासिक पत्र-पत्रिकाओं की भी यथेष्ट संख्या है। पाक्षिक और साप्ताहिक पत्रों की कौन कहे, दैनिक पत्र भी आधे दर्जन से ज्यादा निकल रहे हैं। इन में ३ तो सिर्फ कलकत्ते से, १ काशी, २ कानपुर, १ दिल्ली और १ लखनऊ से प्रकाशित होता है। "भारतमित्र" ने ही दैनिक संस्करण का पथ दिखाया है। और पत्र उसके बाद निकले हैं। सभा-समितियाँ और नाटक-मंडलियाँ भी बड़े-बड़े नगरों में स्थापित हो अपना-अपना काम मज़े में कर रही हैं। पुस्तकालय और वाचनालय भी स्थान-स्थान पर स्थापित हो रहे हैं। काशी का ज्ञान-मंडल और प्रयाग की विज्ञान-परिषद् विशेष उल्लेख के योग्य हैं। इनसे हिंदी का बड़ा उपकार हो रहा है।

हिंदी-विद्यापीठ का भी श्रीगणेश हो गया है। सभी हिंदी के प्रचार और उन्नति में दत्तचित्त हैं। रजवाड़ों में भी हिंदी की घुसपैठ होती जाती है। बड़ोदा, ग्वालियर, अलवर, बीकानेर, इन्दौर और रीवाँ के नरेशों ने राष्ट्रभाषा हिंदी का आदर कर दूरदर्शिता दिखाई है। युद्ध के समय देशीसिपाहियों के मनोरंजनार्थ विलायत से एक सचित्र पत्र निकलता था, जिसमें हिंदी को भी स्थान मिला था। महात्मा गांधी की कृपा से काँग्रेस में भी हिंदी

पहुँचकर अपना आसन जमा बैठी है। हिंदी के लेखकों, लेखिकाओं और कवियों की संख्या बढ़ रही है। तात्पर्य यह कि हिंदी-साहित्य-संसार की बाहरी दशा संतोषजनक है।

भीतरी दशा

हिंदी की बाहरी दशा जैसी अच्छी है, भीतरी दशा वैसी नहीं। इसका कारण लेखकों और कवियों की अहम्मन्यता और हठधर्मी है। भाषा की शुद्धता और स्वच्छता की ओर किसी का ध्यान नहीं है। सभी अपना-अपना पांडित्य प्रकट करने में लगे हैं, कोई किसी की नहीं सुनता। सभी ऐंठासिंह बन गए हैं। इससे हिंदी के शील, शैली और सौंदर्य का सत्यानाश हो रहा है। न वर्णविन्यास का ठिकाना, और न वाक्यरचना का। "मनमानी घरजानी" का बाज़ार गरम है। सच्चे समालोचक के अभाव से ही लेखकों की यह स्वेच्छाचारिता बढ़ गई है। यदि यह शीघ्र न रोकी जायगी, तो पीछे बड़ी हानि होगी। सम्मेलन को अभी से सावधान हो जाना चाहिए।

परलोकवासी मित्रवर बाबू बालमुकुंद गुप्त की याद इस समय आती है। वह "हिंदी बंगवासी" और "भारतमित्र" के संपादन-काल में प्रायः समालोचनात्मक लेख लिखा करते थे। इसका प्रभाव भी अच्छा पड़ा था। उनकी समालोचना के थपेड़े से कितने ही लेखक और कवि राह पर आ गए थे। आज कल लेखक और कवि स्वेच्छा-चारिता करने पर जैसे उतारू हो जाते हैं, वैसे उस समय नहीं हो सकते थे। गुप्तजी साहित्य की मर्यादा-भंग करने वाले को कभी क्षमा न करते थे, और न मर्यादा-रक्षा करनेवाले का उत्साह बढ़ाने में कभी कोई त्रुटि।

काशी के भारतजीवन प्रेस से "चित्तौर चातकनी" और "अश्रुमती" नाम के दो उपन्यास निकले थे। ये दोनों ही बँगला के उल्था थे। इनके कथानक का आधार उदयपुर के राणा थे। इन दोनों में ऐसी कल्पित कथाएँ थीं, जिनसे हिंदूपति राणाओं के वंश पर धब्बा लगता था। गुप्तजी यह सहन न कर सके। उन्होंने इनके विरुद्ध लेखनी उठाई, और उनको गंगा-प्रवाह कराके छोड़ा। मूल बंगला-लेखक ने भी अपनी भूल मान ली थी। उस समय के "हिंदी बंगवासी" और "भारतमित्र" इसके प्रमाण हैं। इन्हीं गुप्तजी के देहावसान पर हिंदी के एक सुलेखक ने शोक के बदले आनंद मनाया था। उसने अपने पत्र में लिखा था कि "चलो अच्छा हुआ, अब हिंदी के लेखक स्वतंत्र होकर लिखेंगे।" इसमें ज़रा भी संदेह नहीं कि लेखक ज़रूर स्वतंत्र हो गए; पर बेचारी हिंदी की हत्या हो रही है। मुहावरों का मूड़ इस तरह मूड़ा जाता है कि उन्हें मुँह दिखाने का मौका ही नहीं। कहीं व्याकरण का बहिष्कार होता है, तो कहीं कोष का काया-कल्प। कोई वर्णविन्यास विपर्यय करता है, तो कोई शैली का संहार। उल्था भी ऊटपटांग होता है। बंगाल की बू, मराठी की महक और गुजराती की गंध से हिंदी का होशहवास गुम है। अंगरेजी के अंधड़ ने तो और भी आफ़त ढाई है। कोई हिंदी में बिंदी लगाता है, तो कोई विभक्ति का विच्छेद करता है। कोई खड़ी बोली खड़ी करता है, तो कोई ब्रजभाषा का बहिष्कार। कोई संस्कृत-शब्दों की सरिता बहाता है, तो कोई ठेठ हिंदी का ठाठ बनाता है। मतलब यह कि सभी अपनी-अपनी धुन में मस्त हैं। कोई किसी की नहीं सुनता। नाई की बारात में

सभी ठाकुर हो रहे हैं। ऐसी अवस्था में आलोचना की अत्यधिक आवश्यकता है। यदि समालोचक-माली साहित्य-वाटिका में काट-छाँट न करे, तो गुलाब को धतूरे दवा लेंगे, इसमें संदेह नहीं। हिंदीसाहित्य-वाटिका की रक्षा करना क्या सम्मेलन का कर्तव्य नहीं है?

हिंदी में बिंदी

कुछ लोग हिंदी में बिंदी लगाने के तरफ़दार हैं। ड ढ के नीचे बिंदी लगाने की बात नहीं है। बात है अरबी-फ़ारसी के लफ़्ज़ों में नुकता लगाए जाने की। तलफ़्फ़ुज़ के लिहाज़ से ही वे ऐसा करते हैं; पर यह नहीं सोचते कि इस बिंदी से हिंदी की चिंदी निकल रही है। बिंदी की बीमारी यहाँ तक बढ़ी कि कन्नौज में भी नुकता लग गया। भला कन्नौज के क में नुकता लगाने की क्या ज़रूरत? न तो अरब या फ़ारस से यह आया, और न उनसे इसका कोई संबंध ही है। प्राचीन कान्यकुब्ज-देश का रूपांतर ही तो कन्नौज है। फिर यह ज़ुल्म क्यों? जो अरबी-फ़ारसी के आलिम-फ़ाज़िल नहीं हैं; वे नुकता लगाने में अकसर भूल करते हैं। एक बार एक प्रसिद्ध विद्वान् वकील साहब ने अपनी वकालत के क में नुकता लगा दिया था। बात यह है कि मौलवी साहब के मकतब की हवा खाए बिना नुकता लगाना नहीं आ सकता। पर हिंदी लिखने में इसकी ज़रूरत ही क्या? जो जानकार हैं, वे नुकता बिना भी ठीक पढ़ लेंगे, और जो नहीं हैं, वे हिंदी की तरह पढ़ लेंगे! हाँ, जो भाषातत्वविद् हैं, वे मज़े मे बिंदी लगा सकते हैं। पर सब लोगों को इसके फेर में न पड़ना चाहिए। हिंदी को बिंदी से पाक-साफ़ ही रखना अच्छा है। सीधी-सादी हिंदी को नई

उलझन में फँसा उसे जटिल बना देना अनुचित और हानि-कारक है।

वर्ण-विन्यास

इसमें भी बड़ी गड़बड़ है। कोई 'गयी' को दीर्घ ईकार से लिखता है, और कोई य में ईकार लगाकर। इसी तरह 'सकता' को कोई क त मिलाकर लिखता है, और कोई अलग करके। हुआ, हुया, हुये, हुए, हुई, हुयी आदि बहुत-से शब्द हैं, जो मनमाने तौर से लिखे जाते हैं। इनका फ़ैसला हो जाय, और सब कोई एक तरह से लिखें, तो बड़ा सुबीता हो। राष्ट्रभाषा हिंदी का ऐसा नियम हो जाना चाहिए, जिसमें सब कोई सहज ही इसे सीख सकें। 'सकता' में क त मिला कर लिखना ठीक नहीं; क्योंकि सकना धातु से 'सकता' बना है। धातु-रूप में तो क त संयुक्त नहीं हैं; फिर 'सकता' में संयुक्त क्यों होंगे? इसी तरह 'नया' शब्द का स्त्रीलिंग 'नयी' और बहुवचन 'नये' होना उचित है; क्योंकि पुल्लिंग से स्त्री-लिंग बनाने में आ की ई हो जाती है, जैसे घोड़ा से घोड़ी। इसी प्रकार 'नया' का 'नयी' होना उचित है। बहुवचन में जैसे घोड़ा से घोड़े बन जाता है, वैसे ही 'नया' से 'नये'। स्वर ई और ए से नयी-नये लिखना अनुचित ही नहीं, अशुद्ध भी है। यही हाल गया, गयी और गये का है। स्वर ई से गयी लिखना ग़लत है। हाँ, हुआ, हुई, हुए में स्वर से ज़रूर काम लेना चाहिए; क्योंकि स्वरान्त शब्दों का स्त्रीलिंग और बहुवचन स्वरान्त ही होना युक्तियुक्त है।

पर कुछ लोग उच्चारणानुयायी वर्णविन्यास Phonetic Spelling की दुहाई दे मनमानी करते हैं। यह अनुचित है।

वह हिंदी के लिये नई चीज़ नहीं है; पर सब जगह उसकी दुहाई देने से काम न चलेगा। उच्चारण के अनुसार लिखने से शब्दों के अनेक रूप बन जायँगे। इससे सुबीते के बदले और भी कठिनता होगी। पहले घबराहट को ही लीजिए। उच्चारण-भेद से ही आजकल इसका रूप 'घबड़ाहट' हो गया है। इसी तरह और भी कई शब्दों के दो रूप हो गए हैं। यह बात ठीक नहीं। इसके सिवा प्रत्येक प्रांत अपने-अपने उच्चारण का पक्षपात करेगा। बिहार के पटने में "बाजाड़ के कड़ैले की तुड़काड़ी से पेट में दड़द" होता है। तिरहुत में "कोरा मारकर सरक पर घोरा दौराया जाता है।" आगरा प्रांत के लोग "उद्द के खेत में बद्द को मिच्च खिला बुज्ज पै फस्स बिछाते हैं।" बीकानेर में "अपने मतलब से चोर कपड़ते हैं," पकड़ते नहीं। इसी तरह पंजाब में भी "मंद्र के अंद्र बंद्र देख शमशान का समरन" होता है। फिर कहाँ का उच्चारण टकसाली माना जायगा? सभी प्रांतवाले अपना-अपना सिक्का जमावेंगे, जिसका परिणाम उच्छृङ्खलता के सिवा और कुछ न होगा। इसलिए हर हालत में Phonetic Spelling की दुहाई देना हिंदी के लिये हानिकारक है।

कोष

अच्छे कोष का अभाव अभी तक बना हुआ है। जो हैं, उनमें संस्कृत शब्दों की भरमार है। ठेठ हिंदी-शब्द ढूंढ़ने से भी नहीं मिलते। इसी हेतु बहुत-सी प्राचीन कविताओं का अर्थ समझने में कठिनाई होती है। काशी-नागरीप्रचारिणी का कोष अभी तक पूरा नहीं हुआ। हो भी, तो उससे जैसा चाहिए, वैसा काम नहीं निकलेगा।

व्याकरण

इसकी तो बड़ी मिट्टी पलीद हो रही है। अधिकांश लेखक और कवि लिखने के समय व्याकरण को ताक पर रख देते और डंके की चोट उसका बहिष्कार करते हैं। कुछ लोग तो यहाँ तक कहने का दुस्साहस कर बैठते हैं कि हिंदी में अभी व्याकरण ही नहीं है। पर यह उनकी सरासर भूल है। हिंदी में व्याकरण था, और है। नहीं हैं उसके माननेवाले। हाँ यह बात ज़रूर है कि व्याकरण की सर्वांग सुंदर पुस्तक अभी तक नहीं छपी है। जो दो-चार आँसू पोंछने के लिये हैं, उनकी कोई परवा नहीं करता है। पं० केशवराम भट्ट और पं० अंबिकाप्रसाद वाजपेयी के व्याकरण अपने ढंग के अच्छे हैं, पर वाजपेयीजी ने हिंदी की संधि के सिद्धांतों में पड़कर उसे ज़रा जटिल कर दिया है। काशी की नागरीप्रचारिणी सभा का व्याकरण देखने का सौभाग्य अभी प्राप्त नहीं हुआ है।

व्याकरण के अंतर्गत ही लिंग, वचन और कारक हैं। इनकी भी छीछालेदर हो रही है। कोई नियम का पालन नहीं करता। पहले लिंग-विपर्यय को ही लीजिए।

लिंग-विचार

इसका पूरा वर्णन मैं इसी पुस्तक के 'हिंदी-लिंग-विचार'-शीर्षक परिच्छेद में कर चुका हूँ। अब उसे यहाँ फिर दुहराना अनुचित है। पर इतना ज़रूर कहूँगा कि हिंदी के लिंग-प्रकरण की बड़ी दुर्दशा हो रही है। कोई तो संस्कृत-रीति से उसका प्रयोग करता है, कोई उर्दू तरीके से, और कोई मनमाने तौर से। नतीजा यह हुआ कि बहुत से शब्द उभयलिंगी हो गए। यह ठीक नहीं।

उर्दू वाले "धरमसाले" में "पाठसाले का चर्चा" कर "माहनमाले से अपना "मान-मर्यादा" बढ़ाते हैं, और हिंदीवाले "अपनी कबीला" की "हुलिया" अपनी "तायफा" को बता "उमदी धोती" न दे, "वेहूदी बातें" बक "ताज़ी खबरें" सुनाते हैं। संस्कृतवाले भला क्यों चुप रहने लगे। वे भी "पवित्रा धर्मशाला" में "विदुषी व्यक्तियों" को बुला "नयो देवता" के आगे "धधकते हुए अग्नि" में "अपना आत्मा" अर्पण करते हैं। क्या यह आश्चर्य की बात नहीं ? कहने का तात्पय यह कि हिंदी में धर्मशाला, पाठशाला, चर्चा, माला, मर्यादा आदि शब्द स्त्रीलिंग हैं, पर उर्दू वालों ने इन्हें पुल्लिंग बना रक्खा है। इसी तरह कबीला, हुलिया, तायफा पुल्लिंग हैं; पर हिंदी के रंगरूटों ने इन्हें स्त्रीलिंग कर डाला है। उमदा, बेहूदा, ताज़ा वगैरह लफ्ज़ स्त्रीलिंग में कभी उमदी, वेहूदी, ताज़ी नहीं बनते हैं। इनका रूप सदा एकसा रहता है। व्यक्ति और देवता संस्कृत में स्त्रीलिंग होने पर भी हिंदी में पुल्लिंग हैं, और अग्नि तथा आत्मा संस्कृत में पुल्लिंग, पर हिंदी में स्त्रीलिंग हैं। धर्मशाला स्त्रीलिंग होने पर भी हिंदी में 'पवित्र' धर्मशाला ही कह-लायेगी, 'पवित्रा' नहीं।

लिंग-प्रयोग की विभिन्नता यहीं समाप्त नहीं। आगे और भी विचित्रता है—

"नागरीप्रचारिणी-सभा" के रहते हिंदी साहित्य-सम्मेलन की "स्थायी समिति" (स्थायिनी नहीं) अभागी (अभागिनी नहीं) हिंदी की शोचनीय स्थिति (शोचनीया नहीं) देख "स्वतंत्रवादी महिला" (वादिनी नहीं) की भाँति "प्रभावशाली देवता" (शालिनी नहीं) से प्रार्थना कर रही है। इधर "उपयोगिनी पुस्तक" में "शृंगार-

संबंधिनी चेष्टा" देख "कार्यकारिणी सरकार" से "प्रभावशालिनी वक्तृता" में "परोपकारिणी वृत्ति" का परिचय भी दिया जाता है। पर यह कोई नहीं पूछता कि पुस्तक-शब्द ने संस्कृत में कबसे स्त्री का रूप धारण कर लिया, जो उसका विशेषण "उपयोगिनी" बना है। हिंदी में पुस्तक ज़रूर स्त्रीलिंग है; पर यहाँ उपयोगी कहने से ही काम चल सकता है।

आजकल 'भलीभाँति' के वज़न पर 'भली प्रकार' और 'अच्छी तरह' की जगह 'अच्छी तौर' का चलन चल गया है; पर यह 'तौर' अच्छा नहीं, और न 'प्रकार' ही भला है।

हिंदी के लिंग-विभाग पर प्रायः सभी प्रांतवाले कुछ-न-कुछ अत्याचार करते हैं। पंजाब भी इस पाप से मुक्त नहीं। यहाँ "तारें आती हैं," और "खेलें होती हैं"; पर तार और खेल हिंदी में पुल्लिंग हैं।

प्रांतीयता के प्रेम का परित्याग कर दिल्ली, मथुरा तथा आगरे के प्रयोगों का अनुकरण सब को करना चाहिए, क्योंकि यहीं के प्रयोग शुद्ध और माननीय हैं।

वचन

वचन में भी बड़ी गड़बड़ है। लताएँ, शिलाएँ और माताएँ के वजन पर कुछ लोग स्त्रीएँ, नारिएँ और बेटिएँ लिखते हैं; पर ये अशुद्ध हैं। इसके शुद्ध रूप बहुवचन में स्त्रियाँ, नारियाँ और बेटियाँ हैं। एकवचन लड़का, बहुवचन लड़के ठीक है; पर राजा का बहुवचन राजे अशुद्ध है।

विभक्ति

इसका भी झगड़ा बहुत दिनों से है। बहुत-कुछ लिखा-पढ़ी अख़बारों में हुई; पर नतीजा कुछ न निकला। इसके दो दल हैं।

एक दल तो सटाऊ सिद्धांत का है, और दूसरा हटाऊ का। सटाऊ विभक्तियों को प्रकृति से मिलाकर लिखते हैं; पर हटाऊ अलग। श्रद्धेय पं० गोविंदनारायण मिश्र ने "विभक्ति-विचार" में इसकी विशेष व्याख्या की है। मैंने भी "विभक्ति-प्रत्यय"-शीर्षक लेख में प्रकृति-प्रत्यय मिलाकर लिखना ही व्याकरण-संगत और युक्तियुक्त सिद्ध किया है। इसके सिवा विभक्ति मिलाकर लिखने से कागज की बड़ी बचत होती है। आशा है, इस पुराने विवादग्रस्त विषय की मीमांसा सम्मेलन शीघ्र करेगा।

वाक्य-रचना

इसमें भी बड़ी विचित्रता है। प्रायः लोग लिखते हैं "संपादक भारतमित्र"। इसका अर्थ हिंदी व्याकरण के अनुसार होता है संपादक का भारतमित्र। पर लिखनेवाले का यह तात्पर्य नहीं है। उसका अभिप्राय है "भारतमित्र का संपादक"। इसलिये "भारतमित्र-संपादक" लिखना ही शुद्ध है। इसी प्रकार महाराज बीकानेर न लिखकर बीकानेर-महाराज लिखना चाहिए। यह लिखना भी ग़लत है—"षष्ठ युक्तप्रांतीय हिंदीसाहित्य-सम्मेलन मुरादाबाद के सभापति"; क्योंकि सभापति का संबंध मुरादाबाद से नहीं, सम्मेलन से है। इसलिये "मुरादाबाद षष्ठ हिंदीसाहित्य-सम्मेलन के सभापति" लिखना शुद्ध है। इसी तरह प्रसिद्ध पंजाबी प्रयोग "मैंने कहा हुआ है", और विहारी प्रयोग "हम कहे" आदि अशुद्ध हैं। नए लेखकों को इन बारीकियों पर विशेष ध्यान देना चाहिए।

शैली

शैली का भी कोई सिद्धांत स्थिर नहीं। जितने लेखक हैं, उतने ही प्रकार की शैलियाँ बन गई हैं। कोई संस्कृत के बड़े-

बड़े शब्द और समस्यंत पद प्रयुक्त करता है, कोई प्रचलित सरल संस्कृत शब्दों को छोड़ ठेठ हिंदी के शब्दों का प्रयोग करता है। कोई अरबी-फ़ारसी के बड़े-बड़े अलफ़ाज काम में लाता है, कोई प्रचलित विदेशी शब्दों को छोड़ संस्कृत के कठिन शब्दों का व्यवहार करता और कोई सबकी खिचड़ी पकाता है।

अब प्रश्न है कि कैसी भाषा लिखनी चाहिए?

मेरी समझ से विषय के अनुकूल भाषा होनी चाहिए। इसके लिये कोई नियम स्थिर कर लेखकों को जकड़बंध करना अनुचित है। इसके सिवा भाषा वही अच्छी है, जो सबकी समझ में आवे। भारतेन्दु बाबू हरिश्चंद्र ने भी सरल भाषा ही पसंद की है।

बँगला के प्रसिद्ध लेखक "वंदेमातरम्" वाले बंकिमचंद्र कहते हैं—"रचना का प्रधान गुण और प्रयोजन सरलता और स्पष्टता है। वही सर्वोत्कृष्ट रचना है, जिसे सब कोई समझ सकें—पढ़ते ही जिसका अर्थ समझ में आ जाय और अर्थ-गौरव भी रहे।"

बात भी यही है। सरलता और स्पष्टता के साथ भाषा का सौन्दर्य भी हो। लिखने के पहले देख लेना चाहिए कि कैसी भाषा लिखने से सबकी समझ में आ जायगी। अगर बोल-चाल की भाषा में भाव भली भाँति प्रगट हो सके, तो क्लिष्ट भाषा की क्या आवश्यकता है? यदि संस्कृत-शब्दों से भाव अधिक स्पष्टता और सुंदरता के साथ व्यक्त हो, तो तद्भव शब्द छोड़कर तत्सम शब्द प्रयुक्त करना युक्तियुक्त है। इससे भी काम न चले, तो कठिन शब्दों का व्यवहार भी बुरा नहीं। 'माँ-बाप' से काम न चले, तो 'माता-पिता' के निकट जाने में क्या हानि है। आवश्यकता हो तो 'जनक-जननी' की भी शरण लेनी चाहिए। तात्पर्य यह कि विषय के

अनुकूल ही भाषा होनी चाहिए, पांडित्य प्रकट करने के लिये नहीं।

देश-काल-पात्र के भेद से क्लिष्ट और सरल भाषा का प्रयोग करना उचित है। श्रीगणेशाय और बिसमिल्लाह करने की जगह है। सब जगह गाय-बैल और भेड़-बकरियों से काम न चलेगा। मौक़ा-महल देखकर धेनु और मेष से भी काम लेना होगा। पर याद रहे, मुसकिराना छोड़ सदा ईषत् हास्य ठीक नहीं। डकार लेने में जो मज़ा है, वह उद्गार में नहीं। काली-कलूटी में जो आनंद है, वह कृष्ण-कलेवरा में नहीं। यही हाल जमहाई और जृम्भन का है।

मिल्टन के समय अँगरेज़ी बड़ी क्लिष्ट और शब्दाडंबर से परिपूर्ण थी। ड्राइडन ने फ्रांसीसी गद्य के आदर्श पर सरल अँगरेज़ी की चाल चलाई। पीछे जॉनसन ने लैटिन भाषा के बड़े-बड़े शब्दों का प्रयोग कर उल्टी गङ्गा बहाने का प्रयत्न किया; किंतु सफल न हुआ। गोल्डस्मिथ की भाषा लोगों ने पसंद की, और उसी समय से सरल भाषा की ओर लेखकों का झुकाव हुआ, और अब तक है।

कुछ लोग विशुद्धता के इतने पक्षपाती हो गए हैं कि वह प्रचलित विदेशी शब्दों को चुन-चुन कर हिंदी-भाषा से निकाल रहे हैं, और उनकी जगह अप्रचलित तत्सम शब्द चलाने की चेष्टा कर रहे हैं। इससे हिंदी को हानि के सिवा लाभ नहीं है; क्योंकि अरबी, फ़ारसी, अँगरेज़ी आदि भाषाओं के जो शब्द हिंदी में घुल-मिल गए हैं, उन्हें निकाल देना हिंदी का अंगच्छेद करना है। लालटेन, डिगरी, समन, वारंट, स्टेशन, रूमाल, मोजा, मसजिद,

नमाज़, मज़दूर, ग़ुलाम, ग़रीब आदि अब हिंदी की संपत्ति हैं। इन्हें छोड़ना हानिकारक है। मोजे की जगह 'पादावरण' और रूमाल के बदले 'मुखमार्जन वस्त्रखंड' का व्यवहार करने से असुविधा होगी। सीधे 'स्टेशन' न जा 'वाष्पयानस्थिति-स्थान' जाने में बड़ी दिक्क़त है। सप्तम हिंदीसाहित्य-सम्मेलन के सभापति पं० रामावतार शर्मा तो विदेशी शब्दों के इतने विरोधी हैं कि उन्होंने अपने भाषण में ऑक्सफोर्ड को 'ऊक्षप्रतर', केमब्रिज को 'कामसेतु' और न्युयॉर्क को 'नवार्क' बना डाला है। उनका कहना है कि योरपवालों ने हिंद को इंडिया कर डाला, तो हम लंदन को "नंदन" क्यों न करें। किसी अंश में यह बात ठीक भी हो सकती है; परंतु प्रचलित शब्दों के परित्याग करने का मैं पक्षपाती नहीं, और न हिंदी शब्दों के रहते तत्सम या विदेशी शब्दों के प्रयोग का समर्थक हूँ। सन् १८९९ ई० में काशी की नागरीप्रचारिणी-सभा ने हिंदी के विद्वानों की सम्मति लेकर हिंदी की लेखप्रणाली के संबंध में जो मीमांसा की, वह इस प्रकार है—"सारांश यह कि सबसे पहला स्थान शुद्ध हिंदी के शब्दों को, उसके पीछे संस्कृत के सुगम और प्रचलित शब्दों को और सबके पीछे फ़ारसी आदि विदेशी भाषाओं के साधारण और प्रचलित शब्दों को स्थान दिया जाय। फ़ारसी आदि विदेशी भाषाओं के कठिन शब्दों का प्रयोग कदापि न हो।" लेख-शैली के विषय में भी उसका निश्चय यह है—"भिन्न-भिन्न विषयों तथा अवसरों के निमित्त भिन्न-भिन्न प्रणाली आवश्यक है। जो ग्रंथ वा लेख इस प्रयोजन से लिखे जायँ कि सर्वसाधारण उन्हें समझ सकें, उनकी भाषा ऐसी सरल होनी चाहिए कि सर्वबोधगम्य हो।"

आरा की नागरीप्रचारिणी सभा ने: भी हिंदी के पंडितों की सम्मति ले "हिंदीसिद्धांत-प्रकाश" नामकी पुस्तिका प्रकाशित की है। उसमें लिखा है—"भाषा उद्देश्य के अनुसार लिखी जानी चाहिए। समाचारपत्र और विज्ञापन की भाषा सरल होनी उचित है, क्योंकि सर्वसाधारण इसके अधिकारी हैं। बालक, स्त्री और साधारण जनों के पढ़ने के लिये जो पुस्तकें लिखी जायँ, वे अत्यंत सरल हों। खेल, व्यायाम तथा वाणिज्य-संबंधी पुस्तकों में नाम-मात्र की भी कठिनता न रहनी चाहिए।" आशा है, लेखक हिंदी के शील और शैली की रक्षा करेंगे।

बेमेल शब्द

हिंदी के कुछ सुलेखक "उच्च ख़याल", "हिंदी के गौरव का ज़माना", "ख़ास श्रेणी", "हर समय, "ख़ास कारण", "काफ़ी संख्या", "ख़तरनाक प्रवृत्ति", "प्रतिकूल राय", "तादृश परवा", "इमारतें जीर्ण होकर भूमिसात् हो जाती हैं" आदि पद और वाक्य लिखने में तनिक भी संकोच नहीं करते। यह गङ्गा-मदार का जोड़ा अच्छा नहीं। गौरव का ज़माना या युग! ज़माना तो फ़ख्र का ही अच्छा है। इसी तरह उच्च विचार और ऊँचा ख़याल, विशेष श्रेणी और ख़ास दरजा, प्रति समय और हर वक्त, विशेष कारण और ख़ास सबब, यथेष्ट संख्या और काफ़ी तादाद, तथा प्रतिकूल सम्मति और खिलाफ़ राय आदि होना उचित और मुनासिब है।

उल्था

सज्जनो, उल्था करना बुरा नहीं; पर उल्था करनेवाले को दोनों भाषाओं पर (जिससे उल्था करना है, और जिसमें करना है) पूरा अधिकार होना-चाहिए। अनधिकारी का उल्था कभी ठीक नहीं

होता। बँगला के अनुवाद को ही लीजिए। अधिकांश अनुवाद अशुद्ध और बँगलापन से भरे हुए हैं। प्रकाशक भी आँखें मूँदकर अनुवाद कराते और छापते हैं। इससे हिंदी का गौरव बढ़ने के बदले घटता जाता है। मूल लेखक के भाव भ्रष्ट होने के सिवा हिंदी का हिंदीपन भी नष्ट होता है। अनधिकारी अनुवादक के अनुग्रह से हिंदी में बँगलापन बेतरह बढ़ता जाता है।

दिग्दर्शन के लिये कुछ उदाहरण उद्धृत करता हूँ। सब से पहले "गल्प" को ही लीजिए। आजकल गल्प की कल्पना अल्प नहीं, अधिक होती जाती है। यह ठेठ बँगला का शब्द है, संस्कृत का नहीं। पर हिंदीवाले आँखों पर पट्टी बाँधकर इसका व्यवहार कर रहे हैं। कथा, कथानक, उपाख्यान, किस्से, कहानी के रहते "गल्प" का गौरव बढ़ाना बेजा है। यों ही "सुहाग रात" के रहते "फूल शैयावाली रात्रि" की अपेक्षा अच्छी नहीं।

बँगला में एक मुहावरा है "भूतों के बाप का श्राद्ध करना।" इसका मतलब है "नाई की बरात में सभी ठाकुर।" पर एक पुराने अनुभवी अनुवादक ने हिंदी में भी भूतों के बाप का श्राद्ध कर डाला है। हिंदी के पाठक इसका क्या अर्थ समझते होंगे, यह परमात्मा ही जाने।

एक संपादक महाशय ने "पटलतोला" का तर्जुमा परवल तौलना किया है, हालाँ कि इसका अर्थ मृत्यु या मौत है।

बंगदेश का नाम है बंगाल। बंगाल के रहनेवाले बंगाली और बंगाल की भाषा बँगला कहलाती है। पर हमारे प्रायः हिंदी-लेखक बँगभाषा की जगह बंगाली-शब्द का प्रयोग करते हैं। यह सरासर अशुद्ध और अनुचित है। हाँ, अँगरेजी में बंगनिवासी और बंग-

भाषा, दोनों के लिये बँगाली शब्द का प्रयोग अवश्य होता है; पर इसकी नक़ल पर हमें भ्रम में न पड़ना चाहिए। उल्था करनेवाले 'फ़ारम' पूरा करने की धुन में इन बातों की परवा नहीं करते, और न प्रेमी प्रकाशक ही इधर ध्यान देते हैं। इससे हिंदी का हित न हो, हानि हो रही है।

मराठी और गुजराती से भाषांतर करनेवालों ने "लागू" "चालू" आदि शब्द हिंदी में चला दिए हैं।

अँगरेज़ीवाले भी कम अंधेर नहीं करते। वह "आत्मशासन" न कर "स्वास्थ्य-पान" करते और अपनी "साधारण आत्मा" का परिचय दे शिमले में "स्वास्थ्य-संचय" करते हैं। घर के कामों में "भाग न ले" पबलिक कामों में "स्वार्थ लेते हैं।" कुछ कहो, तो "बेइज्ज़ती जेब में रख" "आस्तीन में हँसते हैं।" "ईमानदार" तर्जुमा कर अँगरेज़ी का "सुवर्णयुग" लाने के लिये हिंदी के "चाय के प्याले में तूफ़ान उठाते हैं।" "अनुकूल वायु" में पाल उड़ा माता-पिता को "प्रिय पिता" "प्रिया माता" संबोधन कर "रम्य रजनी" कहते और "लोहचेता" बन हिंदी को जहन्नुम भेजते हैं।

अँगरेज़ी न जाननेवाले भला इसका क्या अर्थ समझेंगे? 'स्वास्थ्य पीना', 'भाग लेना', 'स्वार्थ लेना', आदि हिंदीवालों के लिये नई चीज़ है। अँगरेज़ी में "स्वास्थ्य पीने" की भले ही चाल हो; पर हिंदीवाले कभी किसी का स्वास्थ्य नहीं पीते। हाँ प्रेम का प्याला पी सकते हैं। देवता यज्ञ में भाग लेते थे; घर के कामों में कैसे भाग लिया जाता है, यह वह नहीं जानते। हाँ, हाथ ज़रूर बटा सकते हैं। इसी तरह 'पबलिक कामों में स्वार्थ लेने से' की जगह 'उसमें उनका अनुराग या प्रेम है', लिखना अच्छा है।

अक्षरानुवाद न कर अपनी भाषा-प्रणाली के अनुसार भावानुवाद मर्मानुवाद या छायानुवाद करना उत्तम है। अक्षरानुवाद से भाषा का सौष्ठव नष्ट हो जाता है।

अशुद्ध शब्द

समालोचना के अभाव से अशुद्ध शब्दों का व्यवहार दिन-दिन बढ़ता जाता है। संस्कृत शब्दों की कौन कहे, हिंदी के शब्द और पद की शुद्धता की ओर भी अधिकांश लेखक ध्यान नहीं देते। गड्डलिका-प्रवाहवत् एक दूसरे का अनुकरण करते चले जा रहे हैं। उदाहरण के लिये 'अड़चन' और "देख-रेख" को देखिए। अड़चन का शुद्ध रूप अड़चल है। मेरी ही नहीं, चतुर्थ सम्मेलन के सभापति हिंदी के सुप्रसिद्ध सुकवि पं० श्रीधर पाठक की भी यही राय है। वह अपने ता: ३०—४—१८ के पत्र में लिखते हैं—"Bate's Dictionary" में अड़चन लिखा है; परंतु मैं अड़चल को शुद्ध रूप समझता हूँ। अड़ (रोक)+चल (गति)=अड़चल=विघ्न कठिनाई।"

देखरेख का शुद्ध रूप देख-भाल है; क्योंकि देखने-भालने से देख-भाल पद बना है। फिर देखरेख कहाँ से आया? देखना-रेखना तो कोई धातु नहीं। इस तरह के और भी शब्द हैं; जिन्हें विस्तार-भय से छोड़ दिया है।

कुछ लेखकों को संकरी सृष्टि का बड़ा शौक़ है। वे हिंदी क्रियाओं में संस्कृत-प्रत्यय लगाकर शब्द गढ़ते हैं। यही नहीं, हिंदी और संस्कृत-शब्दों में संधि-समास भी कर डालते हैं। यह अनुचित है। संकरी सृष्टि के भी कुछ नमूने ले लीजिए। अकाट्य, सराहनीय, चाहक, उपरोक्त, करजोड़, तकावी-पद्धति, भारतसरकार, जिलाधीश इत्यादि।

अँगरेज़ी हिंदी की मिलावट भी लीजिए—सबूट, कोट-पेंटधारी, स्कूल-भवन, गैस-प्रकाश आदि।

अशुद्ध संधि

अब अशुद्ध संधि के भी उदाहरण सुन लीजिए—

शुद्ध या शुद्ध (शुद्धाशुद्ध) भूम्याधिकारी (भूम्यधिकारी), अनुमत्यानुसार (अनुमत्यनुसार), जात्योन्नति (जात्युन्नति), पश्वाधम (पश्वधम), दुरावस्था (दुरवस्था), सन्मुख (सम्मुख) संवत (संवत्), मनोकामना (मनस्कामना) आदि।

असंस्कृत-शब्द

व्याकरण से असिद्ध शब्द भी खूब बरते जाते हैं। लावण्यता, माधुर्यता, सौन्दर्यता, राजनैतिक, एकत्रित, ग्रसित, प्रदानित, ऐक्यता, ग्रंथित, सृजित, निमर्जित, अनुवादित, सिंचित, मान्यनीय, पौर्वात्य, पठित समाज, मनीषीवर्ग, नेतागण, प्रातःकालीन, विद्वान-समाज आदि असंस्कृत शब्दों और पदों के उदाहरण हैं। ये न हिंदी-व्याकरण से सिद्ध हैं, और न संस्कृत-व्याकरण से। फिर भी इनका प्रयोग धड़ल्ले से हो रहा है।

फ़ालतू शब्द

निर्दोष, निर्धन, नीरोग आदि के रहते निर्दोषी, निर्धनी, निरोगी की क्या ज़रूरत है?

अनुपयुक्त शब्द

उपयुक्त शब्दों का उपयुक्त स्थान पर प्रयोग नहीं होता। शोक, खेद, विषाद, दुःख, परिताप आदि शब्दों का व्यवहार ही इसका प्रमाण है। कोई पत्रोत्तर न पाने पर 'शोक' करता है, और कोई अपने मित्र के मर जाने पर भी 'खेद' ही प्रगट करता है। आयु-

शब्द आजकल उम्र के अर्थ में व्यवहृत होने लगा है । आयु का अर्थ जीवनकाल है, उम्र नहीं । उम्र के लिये वयस् शब्द उपयुक्त है। इसी प्रकार और भी कई शब्दों के साथ मनमानी की गई है ।

पद्य

महानुभावो, साहित्य के दो विभाग हैं—गद्य और पद्य । हिंदी गद्य की गाथा तो गा चुका, अब पद्य की पर्यालोचना करता हूँ ।

आजकल पद्य हिंदी-भाषा के तीन रूपों में लिखे जाते हैं—ब्रजभाषा, खड़ी बोली और उर्दू ।

खड़ी बोली और उर्दू में बस यही अंतर है कि पहली में संस्कृत और हिंदी के शब्द रहते हैं, और दूसरी में अरबी, फ़ारसी और हिंदी के । इन दोनों की गढ़न प्रायः एकसी ही है । उर्दूवाले बहुत आगे बढ़ गए हैं; पर खड़ी बोलीवाले अभी खड़े खड़े ब्रजभाषा पर बिगड़ ही रहे हैं । बेचारी ब्रजभाषा की चाल निराली है ।

खड़ीबोली के खड्ग-प्रहार से ब्रजभाषा की गति रुक-सी गई है । इसके सिवा पुराने कवि वही पुरानी लकीर पीट रहे हैं । इससे उनकी कविताओं में नवीनता का अभाव-सा रहता है । यदि ये लोग प्रचलित विषयों पर नवीन रुचि के अनुकूल कविता करें, तो हिंदी-साहित्य का विशेष उपकार हो, और उनका भी आदर बढ़े ।

खड़ी बोली वाले बेतहाशा सरपट दौड़ रहे हैं । वे तुकबंदी को ही कविता समझते हैं । खड़ी बोली के कवि तो आजकल बहुत बन गए हैं, और बनते जाते हैं; पर यथार्थ में कवि कहलानेवाले बहुत थोड़े हैं । इनकी अधिकांश कविताएँ तुकबंदी के सिवा कुछ नहीं । केवल तुकबंदी का नाम कविता नहीं है, और न शब्द-समूह का । "वाक्यं रसात्मकं काव्यं ।" रसात्मक वाक्य काव्य हैं । जिस

कविता से हृदय की कली न खिले, और चित्त तन्मय न हो, वह कविता कविता नहीं। भूषण के कवित्तों को श्रवण कर छत्रपति शिवाजी महाराज की नस-नस में उत्साह और वीरता की बिजली दौड़ गई थी। बिहारी के एक ही दोहे पर जयपुरनरेश जयसिंह अंतःपुर से दरबार में मंत्रमुग्ध दौड़े चले आए थे। क्या आजकल भी मन को मोहनेवाली ऐसी कविता होती है ? आजकल की अधिकांश कविताएँ भाव-हीन भाषा-हीन और रसहीन होती हैं।

गद्य की तरह पद्य में भी भाषा-सौष्ठव की ओर किसी का ध्यान नहीं है। जिसे देखिए, वही अपोगण्डभाषा में काव्य-कलेवर को कलंकित और कलुषित कर रहा है—भाषा दोगली, और छंद वही उपेंद्रवज्रा या "मार लातन मार लातन" आदि। खड़ी-बोली की कविता में भाव का अभाव है, और ओज की खोज व्यर्थ है। लालित्य के तो सदा लाले पड़े रहते हैं। प्रसाद का कहीं पता ही नहीं। रस क्या, रसाभास भी नहीं। अर्थ से न अर्थ, और न मतलब से मतलब। इन्हीं बातों से दुःखी हो, काशीवासी श्रीयुत जगन्नाथदासजी "रत्नाकर" अपने "समालोचनादर्श" में कहते हैं, और बहुत ठीक कहते हैं—

"पै अब केते भए हाय इमि सत्यानासी;
कवि औ जाँचक रस अनुभव सों दोउ उदासी।
शब्द, अर्थ कौ ज्ञान न कछु राखत उर माहीं;
शक्तिनिपुनता औ अभ्यास लेस हू नाहीं।
बिन प्रतिभा के लिखत तथा जाँचत विवेक बिन,
अहंकार सौं भरे फिरत फूले नित निसि-दिन।

जोरि बटोरि कोऊ साहित्य-ग्रंथ निर्माने;
अर्थशून्य कहुँ, कहूँ विरोधो लच्छन ठाने।
नहिं जानत अति व्याप्ति, और अव्याप्ति असंभव;
बनि बैठत साहित्यकार, आचार्य; स्वयंभव।
जात खड़ी बोली पै कोऊ भयो दिवानो;
कोउ तुकांत बिन पद्य लिखन में है अरुभानो॥"

वास्तव में इन खड़ी बोलीवालों ने बड़ा अत्याचार कर रक्खा है। भगवान इनसे हिंदी-साहित्य की रक्षा करे। गद्य-पद्य की भाषा में सदा से अंतर है, और रहेगा। हिंदी ही नहीं, अँगरेज़ी का भी यही हाल है। कवि वर्डसवर्थ गद्य-पद्य की भाषा का एकीकरण करना चाहता था; पर अपना-सा मुँह लेकर रह गया। खड़ी बोली के कवि भी बोलचाल की भाषा में पद्य रचने का दम भरते हैं; पर रचते हैं विलक्षण भाषा में, जो न बोलचाल की भाषा है, न लिखने-पढ़ने की। इसका प्रमाण निम्नलिखित पंक्तियाँ हैं—

"प्रफुल्लिता कोमल-पल्लवांविता; मनोज्ञता-मूर्त्ति नितांत-रंजिता।
वनस्थली थी मकरंद-मोदिता, अकीलिता-कोकिल-काकली-मयी"

"नाना-भाव-विभाव-हाव-कुशला आमोद-आपूरिता,
लीला-लोल-कटाक्ष-पात-निपुणा भ्रूभंगिमा-पंडिता;
वादित्रादि समोद-वादन-परा आभूषणा-भूषिता,
राधा थी सुमुखी विशाल-नयना आनंद-आन्दोलिता"

सज्जनो, आप ही कहिए, क्या यह बोलचाल की भाषा है? कसम खाने के लिये हिंदी की बस एक "थी" है। इस "थी" को थले में बंद कर दीजिए फिर किसकी मजाल जो इन पंक्तियों को हिंदी कह सके। अच्छा, एक और सुनिए—

"था जहाँ पर हर्ष का आलोक उज्वल जगमगा,
अब भयंकर शोक का ताण्डव वहाँ होने लगा।"

सज्जनो, हर्ष के आलोक के बाद शोक का अंधकार होना उचित है या तांडव ? हर्ष का तांडव हो भी सकता है; पर शोक का नाच खड़ी बोलीवालों की शायद नई उद्भावना है !

यह तो हुई भाव की भव्यता ! अब भाषा का भोलापन भी देख लीजिए—

स्वागत सखे ! आओ सखे ! हम तुम परस्पर बाल हैं;
निज मातृभूमि-स्वदेश के गोदी भरे हम लाल हैं।"

हम-तुम परस्पर-मित्र हो सकते हैं, पर परस्पर-बाल नहीं; क्योंकि 'परस्पर-बाल' का अर्थ है हम तुम्हारे बालक और तुम हमारे बालक। पर यहाँ कवि का भाव ऐसा नहीं है।

खड़ी बोली के दो कवियों की चाशनी तो चखा चुका। अब तीसरे की चखिये—

"चपत हमें चंपा सम लागै, घूँसा फूल हजारा है;
लात लात मुख बात न बोलैं, अटल मौन विस्तारा है।
धम् धम् धम् दस-पाँच करै जब गरुई गदा प्रहारा है;
चलैं पैंग भरि तब कहुँ ऐसो सहनशील हम धारा है।"

"सहनशील हम धारा है" या "सहनशीलता हमने धारी है ?"

खड़ी बोलीवालों की एक नई उपज और सुन लीजिए। वे कहते हैं "वीररस की कविताओं में कानों को कोंचनेवाली परुष पदावली होने से हृदय उत्तेजित नहीं होता"। तो क्या कोमल-कांत पदावली से होगा ? कभी नहीं। वीर-रस की कविताओं में कोमलकांत पदा-

वली अस्वाभाविक ही नहीं, अनुचित भी है। इससे हृदय उत्तेजित

होने के बदले कुंठित हो जाता है। जिस समय सैनिक रणभूमि को जाते हैं, उस समय उनका उत्साह बढ़ाने के लिए हारमोनियम या बीन नहीं बजाई जाती, और न ठुमरी-टप्पे ही गाए जाते हैं, बल्कि जुझाऊ बाजे बजते, और वीर-रस-भरे कड़खे गाए जाते हैं। इससे योद्धाओं का उत्साह बढ़ता है, और वे जान-बूझकर जान देने के लिये आगे बढ़ते हैं। उस समय उन्हें कोमलकांत पदावली सुनाई जाय, तो वे लोग कभी मरने-मारने को तैयार न होंगे।

जो स्वाभाविक कवि हैं, वे देश-काल-पात्र के अनुसार ही भाषा का प्रयोग करते हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी रामायण के युद्ध-वर्णन में परुष पदावली का ही प्रयोग किया है। यथा—

"भये क्रुद्ध जुद्ध विरुद्ध रघुपति त्रोन सायक कसमसे;
कोदंड धुनि अति चंड सुनि मनुजाद सब मारुत ग्रसे।"

इत्यादि।

अगर यहाँ "कंकन-किंकिन-नूपुर-धुनि सुनि" को-सी कोमलकांत पदावली होती, तो क्या इसमें यह ओज आ सकता था ? कदापि नहीं।

हिंदी ही नहीं, अन्यान्य भाषाओं में भी ऐसा ही होता है। कविकुल-कंठाभरण कालिदास ने "रघुवंश" में

"नदत्याकाशगंगायाः स्रोतस्युद्दामदिग्गजे"

लिखकर अपने काव्यकौशल का पूर्ण परिचय दिया है। इन शब्दों के उच्चारण से ही आकाशगंगा के घोर-कठोर कल-कलरव कानों में गूँजने लगते हैं।

इसी प्रकार अँगरेज़ी के महाकवि मिल्टन ने भी अपने "पैरेडाइज़ लॉस्ट" (Paradise Lost) नामक महाकाव्य में Chaos (केऑस) की भयंकरता दिखलाने के लिये लिखा है—

"❀ ❀ ❀ ❀ the dreaded name
of Demogorgon; ❀ ❀ ❀" इत्यादि।

इन भयंकर शब्दों से वहाँ की भयंकरता आप ही प्रकट हो जाती है—कवि को कुछ कहने की ज़रूरत नहीं पड़ती।

वीररस के प्रधान आचार्य हिंदी के सुकवि "भूषण" की एक 'अमृतध्वनि' भी सुन लीजिए —

"गतबल खान दलेल हुअ, खान बहादुर मुद्ध;
सिव सरजा सल्हेरि ढिग, क्रुद्धद्धरि किय जुद्ध।
क्रुद्धद्धरि किय जुद्धद्धरि अरि अद्धद्धरि करि;
मुंड्डरि तहँ रुंड्डकरत डुँड्डुग भरि।
खेदिद्दरवर छेदिद्दय करि मेद्दधि दल;
जंगग्गति सुनि रंगग्गलि अवरंगग्गत बल।"

खड़ी बोली के आचार्य तो इसमें फ़ालतू "बाह्याडंबर, घटाटोप कृत्रिमता" के अतिरिक्त और कुछ नहीं देखते; पर मैं देखता हूँ कि रणभूमि का यह उपयुक्त वर्णन है। जब यह ताल-सुर से गाई जायगी, तब भीरु कापुरुषों की नस-नस में वीरता की बिजली चमके बिना न रहेगी। उत्तेजना के लिये तो यह "अमृतधारा" से बढ़कर है।

यही भूषण शिवाजी के प्रबल प्रताप का वर्णन, देखिए, कैसी सुंदर और सरल भाषा में करते हैं—

"ऊँचे घोर मंदर के अंदर रहनवारी,
ऊँचे घोर मंदर के अंदर रहाती हैं;
कंदमूल भोग करैं, कंदमूल भोग करैं,
तीन बेर खातीं, ते वै तीन बेर खाती हैं।

भूषण सिथिल अंग, भूषन सिथिल अंग,
विजन डुलातीं, ते वै विजन डुलाती हैं;
भूषण भनत सिवराज-वीर तेरे त्रास,
नगन जड़ातीं, ते वै नगन जड़ाती हैं"

इसकी भाषा भव्य, और रचना रोचक है। यमकालंकार भी है।

कुछ लोग खड़ी बोली और व्रजभाषा की खिचड़ी पकाते हैं। यह ठीक नहीं। ख़ालिस खड़ी बोली हो, या विशुद्ध व्रजभाषा। दोनों की खिचड़ी न पकनी चाहिए। इसकी ज़रूरत भी नहीं। ख़ालिस खड़ी बोली में ख़ासी कविता हो सकती है। बनानेवाला चाहिए। उर्दू भी तो खड़ी बोली ही है, देखिए, उसके कवि कैसी कविता करते हैं —

"वादेमुर्दन कुछ नहीं, यह फ़िलसफ़ा मरदूद है;
क़ौम ही को देखिए, मुर्दा है और मौजूद है।"

इन खुले शब्दों में कैसा व्यंग्य भरा हुआ है। सुनते ही दिल लोट-पोट हो जाता है। एक और सुनिए—

"क़दमेशौक़ बढ़े इनकी तरफ़ क्या अकबर;
दिल से मिलते नहीं यह हाथ मिलानेवाले"

हाथ मिलानेवालों पर क्या अच्छी चोट है। बस एक और

"अपने मनसूबे तरक्क़ी के हुए सब पायमाल;
बीज जो मगरिब ने बोया, वह उगा और फल गया।
बूट डासन ने बनाया, मैंने इक मज़मूँ लिखा;
हिंद में मज़मूँ न फैला, और जूता चल गया।"

कैसे मार्के की बात, कैसे अच्छे ढंग से, कही गई है। समझने-वालों की बस मौत है।

बात यह है कि स्वाभाविक और प्रतिभाशाली कवि के लिये जैसी खड़ी बोली, वैसी व्रजभाषा। वह चाहे जिसमें अच्छी कविता कर सकता है। कहा भी है—

"भाव अनूठो चाहिए, भाषा कोऊ होय।"

पर कोई भाषा तो हो। या वह भी नहीं? भाषा की शुद्धता सबसे पहले, पीछे भाव की भावना। भाव सुंदर होने पर भी यदि भाषा अशुद्ध है, तो कभी भावना अच्छी न होगी। कविता और कामिनी में बड़ा सादृश्य है। जिस स्त्री की नाक चिपटी, आँखें छोटी-बड़ी और दाँत बड़े-बड़े हैं, वह वसन-भूषण धारण करने और सुंदर स्वभाववाली होने पर भी मन को मुग्ध नहीं कर सकती। जिसका सुंदर सुरूप है, अंग-प्रत्यंग सुगठित और सुडौल हैं, वह बुरे स्वभाव की और भूषण-वसन-हीन होने पर भी मन को एक बार अपनी ओर अवश्य आकृष्ट करेगी, पीछे उसके कुभाव के कारण भले ही निराश होना पड़े। यही हाल कविता का भी है। आजकल की अधिकांश कविताओं में न भाषा का आनंद है, और न भाव का। केवल शब्दाडंबर—वह भी व्याकरण-विरुद्ध।

सज्जनो, कुछ ऐसे भी हैं, जो बेतुकी हाँकते हैं। जब तुक न मिले, और क़ाफ़िया तंग हो जाय, तो बेचारे क्या करें? बेतुका काव्य ही नहीं, महाकाव्य भी बनने लगा है। बेतुके कवियों का कहना है कि तुक मिलाने में बड़ा झंझट है। इसके फेर में पड़कर कवि भाव भूल जाते हैं। पर यह स्वीकार करने के लिये मैं अभी तैयार नहीं। जो स्वाभाविक कवि हैं, वे सदा भावमय रहते हैं—तुक मिलाने की चिंता उनकी भावराशि में बाधा नहीं डाल सकती। "रत्नाकरजी" कहते हैं—

"अनुप्रास कबहूँ न सुकवि की शक्ति घटावै;
बरु सच पूछो, तो नव सूक्ष हिये उपजावै।
अनुप्रास प्रतिबंध कठिन जिनके उर माँहीं;
त्यागि पद्य प्रतिबंधहु लिखत गद्य क्यों नाहीं।
व्रजभाषा औ अनुप्रास जिन लेखे फीके;
माँगहिं विधना सों ते श्रवण मानुषी नीके॥"

मुरादाबाद के षष्ठ संयुक्तप्रांतीय हिंदीसाहित्य-सम्मेलन के समापति "सतसई-संहार" वाले प्रसिद्ध पंडित पद्मसिंह शर्मा ने अपने भाषण में कहा है—"अच्छा साहब बेतुकी ही सही, पर कुछ कहिए तो। निरे शब्दाडंबर या कोरी तुकबंदी का नाम तो कविता नहीं है। कविता का प्राण जो रस है, उसकी कोई बूँद भी आपके इस प्याले में है या नहीं? आप जो कुछ बँकार रहे हैं, सो क्या पुरस्कार की प्रेरणा से शब्दों के गोले उगल रहे हैं या नासमझों की बेमानी 'वाह वा' के उभारने से यह कवित्व-प्रसव की वेदना सह रहे या सचमुच अंदरवाला कुछ कहने को बेताब कर रहा है? पिछली बात हो, तो शौक से कहिए, नहीं तो कृपा कर चुप रहिए। कविता में नक्काली से काम नहीं चलता। जो कविता चोट खाए हुए दिल से नहीं निकलती, वह स्यापे की नायन का रोना है।" इत्यादि।

वास्तव में बात भी ऐसी ही है। वही कवि सफलता प्राप्त कर सकता है, जिसने मानव-जाति और विश्व-ब्रह्मांड का पूर्ण रूप से निरीक्षण किया है। कवियों के लिये भाषाधिकार और प्रकृति-निरीक्षण की बहुत बड़ी आवश्यकता है। परंतु प्रायः आधुनिक कवि इन बातों की परवा न कर काव्य-रचना करते

हैं। इसी से वे कृतकार्य नहीं होते।

मैं कह चुका हूँ कि सत्यकवियों के लिये भाषाधिकार और प्रकृति-निरीक्षण की बड़ी आवश्यकता है। जो मानव-जाति और विश्वब्रह्मांड का निरीक्षण किए बिना काव्य-रचना करते हैं, वे कभी कृतकार्य नहीं होते; क्योंकि निरीक्षण के अभाव से रचना निस्सार और भाषाधिकार के बिना नीरस हो जाती है। वाल्मीकि, कालिदास, तुलसीदास, शेक्सपीयर, होमर, गेटे, डाँते प्रभृति महाकवियों की सफलता की कुंजी प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण और भाषाधिकार ही है। इनकी रचनाएँ नैसर्गिक भाव से परिपूर्ण हैं। जब तक भाषा पर अधिकार और प्रकृति-निरीक्षण पूर्ण न हो, तब तक किसी को रचना के फेर में न पड़ना चाहिए। अध्यापक उडहाउस (E. A. Wodehouse) अँगरेज़ी-साहित्य के अच्छे ज्ञाता हैं। उनकी भी यही सम्मति है। वह मदरास से निकलनेवाले 'शमा' नाम के मासिक पत्र में लिखते हैं—"सुंदर रचना का प्रयत्न कुछ दिनों तक छोड़ दो। जहाँ तक बने, पद्यरचना का प्रयत्न भी बिलकुल ही छोड़ दो, और तुच्छ-से तुच्छ पदार्थ में जो तत्त्व गुप्त है, जिसका अस्पष्ट ज्ञान प्रत्येक व्यक्ति को है, और जिसे केवल सच्चा कवि ही शब्दों द्वारा प्रकट कर सकता है, उसे निकालने का अभ्यास उत्साह के साथ करो। उदाहरणार्थ—किसी वृक्ष-विशेष के संबंध में (वृक्षजाति के नहीं) तब तक कल्पना करते रहो, जब तक उस शब्द का पता न लग जाय, जो उसके लिये पूर्ण रूप से उपयुक्त है। किसी मित्र या परिचित व्यक्ति को ही लेकर उसके बारे में तब तक ध्यान-पूर्वक सोचते रहो, जब तक उसका सर्वांगीण वर्णन एक ही पूर्ण भाव-प्रकाशक वाक्य में न कर सको। इस संबंध में गद्य का

एक वाक्य पद्य के एक पद से कहीं उत्तम है; क्योंकि सत्य की खोज में इससे रुकावट नहीं पहुँच सकती।"

तात्पर्य यह कि भाषाधिकार और प्रकृति-निरीक्षण के बिना काव्य-रचना दुस्साहस-मात्र है।

मैं खड़ी बोली का विरोधी नहीं, और न व्रजभाषा को बहिष्कृत ही करने का पक्षपाती हूँ; क्योंकि दोनों ही हिंदी के अंग हैं। व्रज-भाषा का बहिष्कार करने से हिंदी के प्राचीन काव्यभांडार से हाथ धोना पड़ेगा। इसके सिवा इसमें जो रस, जो लालित्य, जो सौंदर्य और जो माधुर्य है, वह खड़ी बोली को अभी तक प्राप्त करने का सौभाग्य नहीं हुआ है। हमारे पूर्वाचार्यों ने संस्कृत साहित्य का सार खींच-कर व्रजभाषा में भर दिया है। यह मैं दावे के साथ कह सकता हूँ कि संस्कृत से निकली हुई जितनी भाषाएँ हैं, उनमें हिंदी ही अपने प्राचीन साहित्य के कारण सर्वश्रेष्ठ है। अपने कथन की पुष्टि में पुरातत्ववेत्ता परलोकवासी डाक्टर राजेन्द्रलाल मित्र की उक्ति उद्धृत कर देता हूँ। मित्र महोदय "इंडो एरियंस" [Indo Aryans] नाम की पुस्तक में लिखते हैं—"हिंदुओं में सब से अधिक सभ्य लोगों की भाषा हिंदी है। इसके इतिहास का पता हज़ार वर्ष तक लगता है। तेलगू भाषा को छोड़ भारत की और सभी आधुनिक भाषाओं से इसका साहित्य-भांडार अधिक संपन्न तथा विस्तृत है।"

इसके सिवा एक बात और है। स्वर्गवासी सत्यनारायणजी के कथनानुसार जिस भाषा में

"बरननि को करि सकै भला तिहि भाषा कोटी;
मचलि मचलि जामैं माँगी हरि माखन-रोटी।"

उसे तिरस्कृत और बहिष्कृत करना क्या उचित है? और कुछ न

सहो, तो भगवान कृष्णचंद्र के मुलाहजे से ही व्रजभाषा पर कम-से-कम गालियों की गोलियाँ तो न चलानी चाहिए।

खड़ी बोली के प्रेमी खड़ी बोली में कविता करना चाहते हैं, तो शौक़ से करें। उन्हें कोई रोकता नहीं, पर वे व्रजभाषावालों को क्यों कोसते-काटते हैं? क्या इसके बिना खड़ी बोली खड़ी नहीं हो सकती? यदि खड़ी बोली की कविता अच्छी होगी, तो लोग उसे खुद चाव से पढ़ेंगे। अच्छी न होगी, तो क्या व्रजभाषा को बुरा-भला कहने से वह अच्छी हो जायगी? दूसरों का दोष दिखाने के बदले अपना दोष दूर करना क्या उचित नहीं है? क्या मैं आशा करूँ कि मेरी विनय विफल न होगी?

कानपुर के श्रीयुत वेणीमाधव खन्नाजी ने हिंदी के कवियों को पुरस्कार देने का सिलसिला शुरू कर अच्छा काम किया है। उनका यह उद्योग प्रशंसनीय है। परंतु उनकी उदारता का दुरुपयोग होता देख दुःख होता है। कविता के परीक्षकों को सदा स्मरण रखना चाहिए कि उपयुक्त कविताओं पर पुरस्कार प्रदान करने से ही खन्नाजी की तमन्ना पूरी हो सकती है, अन्यथा नहीं।

शिक्षा

सज्जनो, हमारी शिक्षा का साधन क्या है, शिक्षा की शैली कैसी है, उसका परिणाम क्या है, आदि विषयों पर अब कुछ निवेदन करता हूँ। देशी भाषा ही शिक्षा का स्वाभाविक साधन है। इसी सर्ववादि-सम्मत नियम के अनुसार इंगलेंड में अँगरेज़ी, जर्मनी में जर्मन और जापान में जापानी भाषा द्वारा शिक्षा दी जाती है; पर हिंदुस्तान का बावा आदम ही निराला है। हिंदुस्थानियों की शिक्षा-दीक्षा अँगरेज़ी-भाषा द्वारा होती है; क्योंकि यह राजभाषा

है। राजभाषा सीखने की बड़ी आवश्यकता है; क्योंकि उसके बिना हम सांसारिक व्यवहार सुगमता से आजकल नहीं कर सकते, और न आधुनिक राजनीति ही समझ सकते हैं। पर उसके अध्ययन में जनता को समय नष्ट करने की क्या आवश्यकता है? क्या देश में देशी भाषा का अभाव है? नहीं। फिर इस अस्वाभाविक आचरण का कारण क्या है? इसका एक-मात्र कारण स्वराज का अभाव ही है। स्वराज के बिना न शिक्षा-शैली का संस्कार और न मातृ-भाषा का उद्धार हो सकता है। अतएव साहित्यिक दृष्टि से भी स्वराज्य की अत्यधिक आवश्यकता है।

मैं निवेदन कर चुका हूँ कि हमारी शिक्षा-दीक्षा अँगरेजी-भाषा द्वारा होती है। अँगरेज़ी बड़ी कठिन भाषा है। इसमें अक्षरों का अभाव, वर्णविन्यास का व्यतिक्रम, और उच्चारण की उच्छृङ्खलता पूर्ण रूप से है। यदि उदाहरण-सहित इन सब बातों का वर्णन किया जाय, तो बड़ा पोथा बन जायगा। इसलिये संक्षेप में ही कुछ सुना देता हूँ। पहले वर्णमाला को ही लीजिए। यह अपूर्ण और क्रमहीन है। इसमें स्वाभाविकता का नाम तक नहीं है। एक ही अक्षर को कई अक्षरों के काम करने पड़ते हैं। न तो ई का ठिकाना और न ब का पता; पर A [ए] के बाद B [बी] विराज रही है। स्वर के बिना व्यंजन का उच्चारण नहीं होता, यह सब कोई जानते और मानते हैं। न ई की सृष्टि हुई, और न ब की। फिर दोनों का संबंध कैसे हो गया? क्या यह आश्चर्य की बात नहीं? अँगरेज़ी वर्णमाला में ऐसी-ऐसी बहुतेरी अद्भुत बातें हैं, जिनका वर्णन करना असंभव है। पर हमारे नागरी-अक्षर ऐसे नहीं हैं। वे सीधे, सादे और पूरे हैं। प्रत्येक अक्षर की एक विशेष ध्वनि है। उच्चारण के

अनुसार ही उनका क्रम है। ये वैज्ञानिक रीति से बने हैं, इसलिये सहज ही सीखे जा सकते हैं। पर तो भी रेवरेण्ड जे० नोल्स भारत की राष्ट्रलिपि नागरी अक्षरों के बदले रोमन को ही बनाया चाहते हैं!

अब वर्णविन्यास के व्यतिक्रम और उच्चारण की उच्छृङ्खलता सुनिए। s, i, r = sir सर, और p, i, g = pig। ये pig, sir ही इसके नमूने हैं। C (सी) के उच्चारण में बड़ी आफ़त है। कहीं तो यह 'क' का काम देती है, और कहीं 'स' का। इस एक ही शब्द Circumference में c (सी) ने दोनों रूप धारण किए हैं। अगर कहा जाय कि शब्द के आरंभ में सी का उच्चारण 'स'-सा और मध्य में 'क'-सा होता है, तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि हमारे Calcutta में ऐसा नहीं होता है। यहाँ आदि और मध्य, दोनों जगह सी ने के का काम किया है। कलकत्ते और कानपुर में तो सी का साम्राज्य है; पर कालका और काशी पर के की ही कृपा है। नोल्स [knowles] में के (k) खासी करवट ले गया है, डबल्यु (w) डर गया और ई (e) बेचारी तो बेमौत मर गई है। यह वही नोल्स हैं, जो भारत में रोमन लिपि चलाने की चेष्टा कर रहे हैं! नोल्स के नाम का रोमन में यह परिणाम है, तो उसका काम कैसा होगा, यह आप लोग स्वयं सोच लें। जब इन अक्षरों का उच्चारण ही नहीं होता, तो इन्हें इन शब्दों में घसीटने की ज़रूरत?

तात्पर्य कहने का यह कि जो भाषा हमारी आत्मा के, हमारे शारीरिक संगठन के पूर्णरूप से प्रतिकूल है, उसे एक मनुष्य नहीं, एक जाति नहीं, सारा देश-का-देश ग्रहण कर बैठा है।

राष्ट्रीयता का जैसा चिन्ह परिच्छद है, वैसे ही भाषा भी है। जिस देश की जैसी जलवायु होती है, वहाँ की पोशाक भी वैसी ही होती है! भाषा की भी यही बात है। शरीर और मुख की बनावट से भाषा का गहरा संबंध है। मनुष्य-जाति का संगठन देश-काल-पात्र के अनुसार होता है। इसी से सब जातियों का चालचलन एकसा नहीं—जैसा देश, वैसा वेष। भाषा भी देश के अनुसार ही बनती है। इनकी बनानेवाली प्रकृति-देवी (Nature) है। वह एक दिन में नहीं, कई युगों में देश की जलवायु के अनुकूल वेष और भाषा बना देती है! किसी की खाल खींचना उसे जान से मार डालना है। उस पर दूसरे की खाल चढ़ाना असंभव है। एक जाति की पोशाक छीनकर दूसरे को पहना देना संभव है; पर इसका परिणाम भी वही है। भाषा के बारे में भी वही बात है। गरम मुल्कवाले ढीलाढाला, महीन कुरता पहनते और सर्द मुल्कवाले काला, मोटा, चुस्त कोट। उत्तरी ध्रुव के निवासी मलमल का ढीला-ढाला कुरता पहने, तो जाड़े से जकड़ जायँ, और सहरावासी मोटा, ऊनी कोट पहने, तो वह गरमी से घबरा जाय। हमारे स्वास्थ्य और शरीर के लिये विदेशी परिच्छद जितना हानिकारक है, मानसिक शक्ति के लिये विदेशी भाषा भी उतनी ही है। जो भाषा हमारी आत्मा के, हमारे मानसिक और शारीरिक गठन के, हमारे भावों और विचारों के बिलकुल विपरीत है, उसे दबाव और लालच में पड़कर ग्रहण करना कैसा भयानक कार्य है।

दुधमुहें बच्चों को विदेशी भाषा पढ़ने के लिये लाचार करना बड़ा अन्याय है। आजकल हमारी जैसी अवस्था है, उसमें हमें

अँगरेज़ी-भाषा सीखने की बड़ी ज़रूरत है। उसके बिना हम कुछ नहीं कर सकते। पर उसके अध्ययन की आवश्यकता नहीं। भाषा-तत्वविद् भले ही अध्ययन करें; पर सब इसके लिये परिश्रम क्यों करें ? इसमें जो अच्छे विषय हैं, उन्हें सीखना ही हमारा उद्देश्य होना चाहिए—कुछ भाषा की बारीकियाँ नहीं। फिर क्यों सब कोई अपना समय, स्वास्थ्य और शक्ति अँगरेज़ी-भाषा के अध्ययन में नष्ट करते हैं ? किसी भाषा के सीखने में समय लगाना उसे वृथा खोना है, भाषा का ज्ञान तो विषय के साथ-साथ होता है। जो विषय के बिना भाषा सीखते हैं, वे कभी सफलता प्राप्त नहीं कर सकते। हक्सले साहब की राय है कि भाषा सीखने में समय नष्ट करना अनुचित है। वह कहते हैं कि लड़कियाँ कपड़े पहनने में जैसे समय ख़राब करती हैं, वैसे ही लड़के भाषा सीखने में करते हैं। पर अफ़सोस ! इस अभागे देश की दशा ही विचित्र है। युनिवर्सिटियाँ हमें उच्चश्रेणी की प्राचीन अँगरेज़ी पढ़ाने के लिये क़सम खाकर बैठी हैं। नतीजा चाहे कुछ हो, पर वे ज़बरदस्ती सड़ी-गली चीज़ें हमारे गले में ठूँसेंगी। युनिवर्सिटियाँ ऐसी भाषा सिखाती हैं, जिसके न कुछ मानी है, और न मतलब। उससे हमारी मानसिक शक्ति पर इतना ज़ोर पहुँचता है कि वह नाश न होती हो, तो बिगड़ ज़रूर जाती है। तोते की तरह हम रटाए जाते हैं, और उसी तरह हम बोलते भी हैं।

सज्जनो, भारतवासियों को अँगरेज़ी के वास्ते इतना श्रम न करना चाहिए। उनके लिये यह अस्वाभाविक है। शीत-प्रधान देश-वालों की बनावट उष्ण-प्रधान देशवालों से नहीं मिलती। सर्दी उत्तेजित करती है, और गरमी दबाती है। सर्दी से फुर्ती आती है,

और गरमी से सुस्ती। सर्दी नसें जकड़ती है और गरमी उन्हें ढीली करती है। जब नसें तनी रहती हैं, तो आवाज़ ऊँची, तीखी और कर्कश निकलती है, और ढीली रहने से धीमी, नीची और भारी। पट्टे की तरह नसें भी गरम मुल्कों में ढीली पड़ जाती हैं। गरम देशवालों के चमड़े और होंठ सर्द मुल्कवालों के चमड़े और होठों से मोटे होते हैं। सीना तथा फेफड़ा छोटा होता है। जिनकी नसें मज़बूत और तनी होती हैं, उनकी आवाज़ स्वभाव से कर्कश और बेसुरी होती है, पर जिनकी नसें ढीली हैं, उनकी आवाज़ मीठी सुरीली और धीमी होती है। भारत न शीत-प्रधान है और न उष्ण-प्रधान। यह मध्यवर्ती है। इसलिये भारतवासी सबकी नकल कर सकते हैं, पर अँगरेज़ लाख सर पटकने पर भी भारतवासियों की नक़ल नहीं कर सकते। वे तोताराम को 'टोटाराम' ही कहेंगे। पर हमें नक़ल करने की क्या ज़रूरत है? हमें तो अँगरेज़ी-भाषा सीखने से मतलब है, जिससे सांसारिक व्यवहार चले। जो अँगरेज़ी-साहित्य पढ़ना चाहें, वे मजे में पढ़ सकते हैं। मगर सबको उसके लिये लाचार करना अनुचित है।

सज्जनो, अँगरेज़ी-भाषा सीखनेवालों के लिये शब्दों की व्युत्पत्ति, धातु, अर्थ व्यवहारादि आरंभ में व्याकरण से सीखने की ज़रूरत नहीं। कानों से सुन और आँखों से देखकर सीखना चाहिए। यहाँ के विश्वविद्यालयों में भाषा सिखाने का ढंग बिलकुल बेहूदा है। यहाँ ६ वर्षों में भाषा का ज्ञान होता है। वह भी अधूरा। पर ऊपर कहे ढंग से ६ महीने में ही काम बन जाता है। एक जर्मन ने फ्रांसीसी भाषा सीखने के लिये उसका व्याकरण घोंट डाला, कोष रट डाला, स्कूल में जाकर लेक्चर सुन डाला; पर फल कुछ न

हुआ। उसको एक साल की मेहनत यों ही गई। इसके बाद वह किताबें फेंक फ्रांसीसी बालकों की संगति में जा बैठा। बस, ६ महीने में ही वह फ्रांसीसी-भाषा में बातचीत करने लग गया। मदरास के परिया किसी स्कूल में पढ़ने नहीं जाते, पर अँगरेज़ों के साथ रह-कर मजे में अँगरेज़ी बोल लेते हैं। किसी देश की भाषा सीखने के लिये पहले कानों और आँखों का सहारा लीजिए। पीछे पुस्तकें पढ़िए। आप वह भाषा मजे में बोलने, समझने और लिखने लगेंगे। बस, इतना ही हमें चाहिए और इतना ही दरकार भी है।

पर हमारी दयालु युनिवर्सिटियाँ यह सब क्यों सोचने लगीं? उन्हें तो शिक्षा देने से मतलब है। उसका फल चाहे कुछ ही हो। इन युनिवर्सिटियों की ओर देखकर अपने बच्चों की ओर देखता हूं, तो कलेजा काँप जाता है। जिस भाषा द्वारा वे शिक्षा देती हैं; वह दुरूह है। शिक्षा-प्रणाली भी प्राण-घातिनी है। इस प्रणाली से मनुष्य की मानसिक शक्ति बढ़ने के बदले और घट जाती है। पढ़ने-वालों पर पुस्तकों का इतना बोझ लाद दिया जाता है कि वे वहीं दब जाते हैं—शेर होने के बदले वे गीदड़ हो जाते हैं। मौलिकता तो उनमें रहती ही नहीं। रहे कहाँ से? प्रकृति-निरीक्षण का उन्हें समय ही नहीं मिलता। प्रकृति का ज्ञान पुस्तकों के द्वारा ही कराया जाता है। इसी से वे किताब के कीड़े बन जाते हैं। स्वर्गवासी भारतेन्दु हरिश्चंद्र, पं० प्रतापनारायण मिश्र, पं० माधवप्रसाद मिश्र, बाबू बालमुकुंद गुप्त, श्रद्धेय पं० बालकृष्ण भट्ट आदि जिन स्वनामधन्य पुरुषों का स्मरण हम श्रद्धा और प्रेम से करते हैं, वे अगर इन विश्वविद्यालयों का मुख देख लेते, तो शायद आज मुझे उनके शुभ-नाम लेने का अवसर हाथ न लगता। यहाँ हिंदी का प्रसंग है,

इसलिये केवल हिंदीलेखकों और कवियों के ही नाम लिए हैं। विस्तार-भय से भारत के अन्यान्य भाषाभाषियों के नाम छोड़ दिए हैं। ये लोग पहली ही मंजिल से ठोकर खा लौट आए। इसी से बच गए। मेरे कहने का यह तात्पर्य नहीं कि विश्वविद्यालय के सभी कृतविद्य अयोग्य हैं। यदि सौ में दो-चार योग्य हुए ही, तो उससे क्या ? अधिकांश तो निकम्मे ही निकलते हैं। इसलिये कहना यह है कि जो जिस प्रांत का है, उसकी प्रारंभिक शिक्षा उसी प्रांत की भाषा में हो, पर साधारण शिक्षा अँगरेज़ी के बदले राष्ट्रभाषा हिंदी में हो। अँगरेज़ी दूसरी भाषा के स्थान पर रहे। फ्रांस, जर्मनी, इंगलेंड और जापान की इतिहास-जीवनचरित्र विज्ञान-शिल्पकला-संबंधी अच्छी-अच्छी पुस्तकों का हिंदी में उल्था हो, और वे ही पढ़ाई जायँ, तो हमारे देश की, और हमारी भाषा की उन्नति हो सकती है।

काशी में हिंदू-विश्वविद्यालय को बनते देख हिंदुओं में हिम्मत हुई थी; पर उसे हिंदी-हीन होते देख वे हताश हो गए। गांधीजी को आँधी आने पर भी मालवीयजी मौन ही रह गए थे। अब वहाँ शिक्षा का साधन (माध्यम ?) हिंदी होना असंभव ही है।

धन्यवाद है पंडित हृदयनाथ कुंजरू को, जिनकी चेष्टा से युक्तप्रांत की कौंसिल में मैट्रिक तक की शिक्षा देशी भाषा द्वारा देने के लिये स्कूल खोलने का निश्चय हुआ है। अवश्य ही यह अभी परीक्षार्थ है।

सज्जनो, जिस अँगरेज़ी-शिक्षा-दीक्षा से देश दुर्दशा-ग्रस्त होता जाता है, वह पाश्चात्य सभ्यता स्रोतस्वती का एक स्रोत-मात्र है, जिसके जल से आधुनिक भारत प्लावित हो रहा है। इस सभ्यता

के गुण-दोष जितने साधनों से यहाँ पहुँचाए और फैलाए जा रहे हैं, उनमें अँगरेज़ी-साहित्य ही प्रधान है। इस साहित्य के कलुषित अंश के संसर्ग से देश को बचाने की चेष्टा करना देश और जाति के शुभचिंतकों का धर्म है। कोई विदेशी यात्री ही सुदूर पश्चिम से प्लेग के कीड़े यहाँ लाया, जिनसे लाखों नहीं, करोड़ों मनुष्य प्रतिवर्ष काल के गाल में गए, और जाते हैं। क्या हमें नैतिक रोगों को उत्पन्न करनेवाले उन असंख्य कीटाणुओं की ख़बर है, जिन्हें विदेशी साहित्य, दृश्य और अदृश्य रूप से अपने साथ रोज़ ही यहाँ ला और फैला रहा है? मैं स्वीकार करता हूँ कि इसके प्रचार को रोकना दुष्कर कर्म है। किसी ख़ास रंग या जाति के विदेशो किसी देश में आने से रोके जा सकते हैं—विदेशी वस्तुओं की आमदनी भी बात-की-बात में रोकी जा सकती है। पर कोई देश कभी हानिकारक साहित्य का प्रवेश निषेध करने में पूर्णरूप से सफल हो चुका है, यह सुनना बाक़ी है। क्या कानून में ऐसी ताक़त नहीं? बायस्कोप के 'फ़िल्म' जब रोके जा सकते हैं, तो पत्रों और पुस्तकों का रोका जाना क्या संभव नहीं? मैं समझता हूँ नहीं है! इसी से ऐसे साहित्य के प्रचार के नियंत्रण या निषेध की उपयोगिता और आवश्यकता सभी स्वीकार करते हैं; परंतु आज तक इसमें कोई कृतकार्य नहीं हो सका।

देखा गया है कि जिन पत्रों या पुस्तकों का प्रचार सरकार अपने हक़ में बुरा समझती है, उन्हें तो वह आने से रोक देती है; पर क्या इससे उसकी अभीष्ट सिद्धि हो गई? 'डेली हेरल्ड' नहीं आता; पर संवाददाता अपने पत्रों को उसके अवतरण बराबर भेजा करते हैं। दूसरे पत्र उसकी सम्मतियाँ उद्धृत किया ही

करते हैं। सभी पत्रों का आना बंद कर देना सरकार के लिये भी असंभव है। इस एक उदाहरण से आप समझ सकेंगे कि राष्ट्र की दृष्टि से किसी पत्र या पुस्तक के विचार उसके लिये अत्यंत हानिकर होने पर भी वह उसका आना रोक नहीं सकता। पहले तो उसका पता लगाना ही असंभव है। नित्य नई पुस्तकें हज़ारों-लाखों की संख्या में निकलती हैं। इसका निर्णय ही भला कौन कर सकता है कि किसके विचारों का जनता पर क्या प्रभाव पड़ेगा। दूसरे यदि यह फैसला हो भी जाय, तो उन विचारों के सभी प्रवेश-मार्ग कभी बंद नहीं किये जा सकते। सच तो यह है कि यह कार्य किसी परीक्षक मंडली पर छोड़ा भी नहीं जा सकता। परीक्षकों के रहते भी अश्लील-से-अश्लील 'फिल्म' दिखाए ही जा रहे हैं। दर्शकों के चरित्र पर उनका बुरा प्रभाव पड़ ही रहा है। गुण-दोष के निर्णय के लिये और विषयों की तरह लिखने-पढ़ने में भी स्वतंत्रता रहनी चाहिए। परंतु साथ ही पाठकों की रुचि परिमार्जित करने का भी पूरा प्रयत्न करना होगा। पाश्चात्य साहित्य-क्षेत्र में मोह-मरीचिका का अभाव नहीं। इसका भयंकर परिणाम भी समझना होगा। सन्मार्गप्रदर्शन में यदि सफलता तत्काल न भी हो, तो भी उससे पीछे पैर न देना चाहिये। यह मैं इसलिये कहता हूँ कि तरह-तरह के कुसंस्कार और कुरीतियाँ, दोष और कल्मष विदेशी साहित्य के अध्ययन से धीरे-धीरे हमारे जीवन में प्रवेश करते जाते हैं। यदि जीवन को उन्नत बनाना ही साहित्य का प्रधान लक्ष्य है, तो हम साहित्य-सेवियों का भी कर्तव्य है कि जनता को विदेशी साहित्य के नीर-क्षीर की पहचान बतलावें, और यह कर्तव्य-संपादन करते समय

गीता का यह वाक्य स्मरण रखें "कर्मण्ये वाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।"

नशे का नतीजा हाथोंहाथ मिलता है, पर तो भी वह नहीं छूटता। यदि शारीरिक क्षति पहुँचानेवाले मादकों का त्याग मनुष्य के लिये इतना कठिन हो सकता है, तो जिन मादकों से मानसिक अधःपात होता है, उनका तो कहना ही क्या ? "टेंपरेंस सोसाइटियाँ" अपना काम वंद नहीं करतीं। फिर हम ही क्यों करें ? संभव है, वर्तमान क्रिया का फल भविष्य के गर्भ में गुप्त हो।

अवश्य ही कोई समझदार यह कहने का साहस या धृष्टता न करेगा कि सारा पाश्चात्य साहित्य ही कलुषित है। गुणों के विना पाश्चात्य जातियों का यह उत्कर्ष असंभव था। उन गुणों का प्रतिविंब उनके साहित्य-पटल पर अटल हुए विना न रह सकता था। सज्जनो, मैं उन लोगों में नहीं, जो समझते हैं कि भारतीय राष्ट्र का निर्माण पाश्चात्य काव्य-इतिहास के पठन-पाठन पर ही अवलंवित है। मैं न तो विदेशी भावों का ही अंध भक्त हूँ, और न विदेशी भाषाओं का ही। मानसिक चक्षुओं से भविष्य में जितनी दूर मैं देख सकता हूँ, मुझे कोई ऐसा समय दिखाई नहीं देता, जब जनता के लिये विदेशी भाषाओं या भावों की पूजा हितकारक कही जा सके। फिर भी मैं वहाँ के साहित्य-रत्नाकर में डुबकियाँ लगा जनता के हित के लिये रत्न निकालने का प्रस्ताव करता हूँ। पर भूलकर भी यह सलाह मैं नहीं दे सकता कि जनता या उसका कोई बड़ा अंश गोताखोरी सीखे। यह काम अल्पसंख्यक विद्वानों का है। वही विदेशी साहित्य-रत्नाकर से रत्न

निकालकर मातृभाषा का भांडार भरे—वही विभिन्न तीर्थों से सलिल संग्रह कर अपने साहित्य-क्षेत्र को यथा समय और यथा-स्थान सिक्त किया करे।

ऐसे सभी तीर्थयात्रियों के लिये एक पथ निर्दिष्ट नहीं किया जा सकता; प्रत्येक को अपना लक्ष्य और अपना मार्ग आप ही स्थिर करना होगा। उनका अपनी मातृभाषा और मातृभूमि के साथ यही कर्तव्य होगा कि वे चाहे जहाँ से लावें,—केवल शुद्ध और स्वच्छ जल लावें। वह स्रोतस्वती के बीच का हो—किनारे या पनारे का न हो। पूर्व और पश्चिम की आवश्यकताओं में जो अंतर है, उसका उन्हें सदा ध्यान रखना होगा। एक बात और है। पाश्चात्य साहित्य कहने से स्थान और समय का कुछ भी बोध नहीं होता। यद्यपि अपने राजनीतिक संबंध के कारण हमारा विशेष परिचय अँगरेज़ी से ही है, तथापि जानकारों का कहना है कि साहित्य की सर्वाङ्गीण उन्नति का अभिमान कोई एक भाषा नहीं कर सकती। किपलिंग ने छोटी-छोटी कहानियाँ लिखी हैं, और महात्मा टालसटाय ने भी लिखी हैं। किपलिंग अँगरेज़ है, और इसी देश से उनके अधिकांश काव्यकृति का संबंध है। पर जिन लोगों ने महात्मा टालसटाय की कहानियों का हिंदी-अनुवाद पढ़ा है, उनसे, किपलिंग का प्रत्येक पाठक कह सकता है कि जो उपकार रूसी भाषा से इस देश को पहुँचा है, वह अँगरेज़ी से पहुँचने का नहीं। यह दूसरी बात है कि रूसी लेखक के विचारों का रसास्वादन हमें अँगरेज़ी-अनुवाद के कारण ही हुआ है। तात्पर्य यह कि पाश्चात्य-साहित्य से हम केवल अँगरेज़ी-साहित्य ही न समझें, और किपलिंग से

निराश होने पर उस साहित्य-मात्र से निराश न हो जायँ। फिर पाश्चात्य संसार में परिवर्तन भी बड़े वेग से हो रहा है। अँगरेज़ी में ही देखिए, पुराने और आधुनिक कवियों के सुर में कितना भेद है! अवश्य ही नए श्रीधर पाठक और नए 'रत्नाकर' को नई दिशाओं में यात्रा करनी होगी,— नए आदर्श हमारे सामने रखने होंगे।

फिर मैं स्पष्ट रूप से कह देना उचित समझता हूँ कि हमें पश्चिम से वस्तु के लाने की उतनी आवश्यकता नहीं, जितनी उसकी विधि के लाने और अपनाने की है। हमें उसके कार्य पर उतना ध्यान न देना चाहिए, जितना उसकी कार्य-प्रणाली पर। पश्चिम को अपनी समस्याएँ हल करती हैं, और पूर्व को अपनी; पर एक-दूसरे से उन्हें हल करने के उपायों के संबध में बहुत-कुछ सीख सकते हैं। दोनों एक-दूसरे से ही ऐसी सहायता अनादि-काल से लेते भी आ रहे हैं। इधर सौ वर्षों में भारत ने अपने साहित्य-मंदिर का निर्माण करने में पाश्चात्य 'शिल्पसूत्रों' से बहुत-कुछ लाभ उठाया है। इतिहास और विज्ञान में पाश्चात्य अनुसंधान-प्रणाली का अवलंबन इस बात का प्रमाण है। इस गद्यपद्यमय काव्य की दिशा में भी उसका प्रभाव कम नहीं पड़ा है। सामयिक पत्रों के लेखों और टिप्पणियों, आधुनिक अख्यायिकाओं और उपन्यासों, बँगला के नवीन-नवीन छन्दों और रचनाशैलियों का साँचा पश्चिम से ही इस देश में आया है। पर प्रत्येक साँचा हमारी हिंदी के काम का नहीं हो सकता। जिससे हमारे साहित्य का वास्तविक उपकार हो सकता है, उसे लाना और लोकप्रिय बनाना हमारा धर्म है।

सम्मेलन

सज्जनो, हिंदो-साहित्य की समालोचना तो हो चुकी । अब सम्मेलन का सिंहावलोकन करता हूँ । यह सम्मेलन वंग, विहार, युक्तप्रांत, मध्यभारत, मध्यप्रदेश, और बंबई से विजयवैजयंती उड़ाता वीरभूमि पंजाब में आ पहुँचा है। राजस्थान में राज्यस्थापन के बाद काश्मीर पर कब्जा करेगा। मदरास में भी मोर्चाबंदी हो रही है । मौक़ा मिलते ही वहाँ भी जा मैदान मारेगा ।

इसमें संदेह नहीं कि हिंदीसाहित्य-सम्मेलन से हिंदीप्रचार में बड़ी सहायता मिली है। युक्तप्रांत की अदालतों में नागरी-अक्षरों का जो कुछ थोड़ा-सा प्रचार है, और उनके कागज़-पत्र नागरी में लिखे-पढ़े जाते हैं, इसका श्रेय सम्मेलन को ही है। यदि सम्मेलन स्थान-स्थान पर नागरी के लेखक नियत न करता, तो सरकारी सरकुलर यों ही पड़ा रह जाता। पर दुःख यह है कि सब हिंदी-भाषाभाषी वकीलों से जैसी चाहिए, वैसी सहायता नहीं मिली। इसके सिवा मदरास में हिंदीप्रचार के लिये सम्मेलन ने पूरा प्रयत्न किया, और उसमें सफलता भी हुई । कई मदरासी लड़कों को सम्मेलन ने छात्रवृत्ति देकर प्रयाग में हिंदोसाहित्य की शिक्षा दी, और जब वे परीक्षोत्तीर्ण हुए, तो उन्हें मदरास में हिंदीप्रचार के लिये वेतन देकर नियुक्त किया । यह सिलसिला कई वर्षों से जारी है । मदरास में हिंदीप्रचार का कार्य अब भी चल रहा है । इसमें सम्मेलन ने मुक्तहस्त होकर व्यय किया, और कर रहा है ।

प्रथमा, मध्यमा और उत्तमा नाम की तीन परीक्षाए सम्मेलन की ओर से होती हैं । उत्तमा को हिंदी का एम० ए० कहा

जाय, तो कुछ अत्युक्ति नहीं; क्योंकि मध्यमा में प्रायः बी० ए० तक का कोर्स हिंदी में पढ़ा दिया जाता है । प्रतिवर्ष सैकड़ों परीक्षार्थी इन परीक्षाओं में सम्मिलित और उत्तीर्ण होते हैं। प्रयाग के सिवा भारत के प्रायः सभी बड़े-बड़े नगरों में इसके परीक्षाकेन्द्र हैं। पर दुःख है, पंजाब में अब तक एक केन्द्र भो कहीं स्थापित नहीं हुआ। मध्यमापरीक्षोतीर्ण "विशारद", और उत्तमा में उत्तीर्ण 'रत्न' की उपाधि पाते हैं । सम्मेलन केवल परीक्षा ही नहीं लेता, हिंदो की शिक्षा भी देता है। इसके लिये प्रयाग में हिंदी-विद्यापीठ की स्थापना हुई है।

सम्मेलन ने सुलभ पुस्तकमाला-प्रकाशनविभाग भी खोल रक्खा है, जिसमें प्रायः सम्मेलन-परीक्षाओं की पाठ्य पुस्तकें प्रकाशित हो सस्ते मूल्य में बिकती हैं।

सम्मेलन, की ओर से "सम्मेलन-पत्रिका" नाम की एक मासिक पत्रिका प्रकाशित होती है, जो इधर कुछ दिनों से समय पर निकलने लगो है। अब उसमें साहित्य-संबंधी समालोचनात्मक लेख भी रहते हैं। धन्यवाद है श्रीयुत वियोगी हरिजी को, जिन्होंने इसका श्रीगणेश किया है।

यह सब होने पर भी हिंदीसाहित्य-सेवी कहते हैं कि सम्मेलन ने साहित्य-संबंधी कोई महत्वपूर्ण कार्य अभी तक नहीं किया है। करता कहाँ से ? अभी तो उसने बारहवें वर्ष में पाँव ही रक्खा है। अब तक तो उसने केवल बाल-सुलभ चरित्र दिखलाकर अभिभावकों, प्रमियों और हितैषियों का मनोरंजन किया है, और यही उचित भी था । बालक बाल्यकाल में खेलने-कूदने के सिवा और कुछ नहीं करते। सम्मेलन ने भी प्रचार के सिवा और कोई बड़ा काम नहीं किया । काम करने का समय तो अब आया है।

आइए, इसका उपनयन-संस्कार करें। यदि आज इसका संस्कार न होगा, तो फिर यह व्रात्य हो जायगा। इसलिए अब विलंब को आवश्यकता नहीं! शुभस्य शीघ्रम्!

सम्मेलन के नए युग का आरंभ आज से हो जाना चाहिए। हिंदीसाहित्य-सम्मेलन के नाम को सार्थक और सफल बनाने के लिये पूरा प्रयत्न करना समस्त हिंदीसाहित्य-सेवियों, हिंदोसाहित्यानुरागियों और हिंदीसाहित्य-रसिकों का आज प्रधान और प्रथम कर्तव्य है। मेरी हार्दिक इच्छा है कि यह सम्मेलन हिंदो-भाषा का "फ्रेंच एकेडेमी" (Franch Academy) बने। फ्रेंच एकेडेमी ने फ्रांसीसी भाषा का जिस प्रकार संरक्षण और नियंत्रण किया है, उसी प्रकार सम्मेलन भी हिंदीभाषा का करे।

फ्रांस की राजधानी पेरिस के कुछ साहित्य-सेवियों के मन में साहित्य-चर्चा की तरंग उठो। बस, वह सप्ताह में एक बार एकत्र हो बारी-बारी से अपनी-अपनी नवीन रचना सुनाने और परस्पर आलोचना-प्रत्यालोचना करने लगे। ५-६ साल तक यही सिलसिला जारी रहा। धीरे-धोरे इसको ख़बर सम्राट् तक पहुँची। अंत में, सन् १६३५ ई० में, सम्राट् की आज्ञा से फ्रेंच एकेडेमी की विधिवत् स्थापना हो गई। फिर क्या था, दिन-दूनी रात-चौगुनी इसकी उन्नति होने लगी। अब तो यह फ्रांस की एक प्रधान संस्था है। इसका उद्देश्य फ्रांसीसी भाषा का संस्कार था। फ्रांसीसी भाषा की विशुद्धता का श्रेय फ्रेंच एकेडेमी को ही है। इसी के पूरे प्रयत्न से फ्रांसीसी भाषा के दुष्ट प्रयोग और ग्राम्य दोष दूर हुए, और वह संस्कृत एवं परिमार्जित हो गई। सज्जनो, कहने का तात्पर्य यह कि सम्मेलन "फ्रेंच एकेडेमी" को आदर्श माने; पर उसकी संकीर्णता

का अनुकरण न करे, और न उसकी तरह राजकीय संस्था हो जाय। एकेडेमी ने कोई रचनात्मक कार्य न कर केवल संरक्षण और नियंत्रण ही किया, पर समेलन को उदारता पूर्वक दोनों कार्य करना चाहिए।

सज्जनो, सम्मेलन के वार्षिक अधिवेशन के समय दूर-दूर से हिंदी के विद्वान्, लेखक और कवि आते हैं; पर उनकी उपस्थिति का लाभ सम्मेलन नहीं उठाता, और न आनेवालों की ज्ञानपिपासा ही शान्त होती है। फिर इस अधिवेशन से क्या लाभ ? अधिवेशन के तीनों दिन प्रस्तावों में ही न बिताकर कुछ साहित्यिक कार्य करना चाहिए। कम-से-कम एक दिन केवल साहित्य-चर्चा के लिये रहे, जिसमें विद्वान लोग विवादग्रस्त विषयों की मीमांसा करें, और वही सम्मेलन की मीमांसा समझी जाय। इसके सिवा सम्मेलन वर्षिक अधिवेशन करके ही मौन न हो जाय, बल्कि साल में १२ न सही, ६ उत्सव तो ज़रूर करे।

तुलसीदास, सूरदास, हरिश्चंद्र, प्रतापनारायण आदि के जन्मोत्सव के अतिरिक्त होली, दिवाली, दशहरा, वसंतपंचमी आदि त्योंहारों पर भी साहित्य-सेवियों का समारोह करना चाहिए। इससे जागृति और साहित्य की वृद्धि होती है। प्रचार से यह काम अधिक उपयुक्त और उचित प्रतीत होता है। आशा है, सम्मेलन इन सूचनाओं पर विशेष ध्यान देगा।

एक बात और है। केवल पाठ्य पुस्तकें प्रकाशित करने से काम न चलेगा। सम्मेलन को और भी आगे बढ़ना चाहिए।

हिंदी के प्राचीन काव्यों का संग्रह टीकाटिप्पण-सहित छापने की ओर ध्यान देना चाहिए। कैसे दुःख की बात है कि सूर, तुलसी, बिहारी प्रभृति के ग्रंथों का एक भी सटीक संस्करण दिखलाई

नहीं देता, यहाँ तक कि तुलसीकृत रामायण का शुद्ध और क्षेपक-रहित संस्करण भी दुलर्भ है—टीकाटिप्पणी की तो बात ही अलग है। क्या सम्मेलन यह कार्य हाथ में नहीं ले सकता ? जब प्रचार के कामों में उसे हज़ारों की सहायता मिलती है, तो क्या इसके लिये नहीं मिलेगी ? ज़रूर मिलेगी।

सम्मेलन की भाषा-शैली, वर्ण-विन्यास और वाक्य-रचना आदर्श होनी चाहिए। सम्मेलन का भाषा-संबंधी क्या सिद्धांत और कर्तव्य है, यह भी स्थिर हो जाना आवश्यक है।

सम्मेलन की परीक्षाओं का पाठक्रम भी सरकारी युनिवर्सिटियों की नक़ल पर ही बना है। भला, प्रथमावालों के लिये गणित की क्या ज़रूरत है ? अल्पवयस्क बालकों के मस्तिष्क को फालतू बातों से भरने की चाल जितने जल्द दूर हो, उतना ही अच्छा। बालकों की सबसे बड़ी आवश्यकता है भाषा का ज्ञान। भाषा का ज्ञान हो जाने से वे चाहे जिस क्षेत्र में जायँ, उन्हें लिखने-बोलने में शब्दाभाव की कठिनता प्रतीत न होगी। मनुष्य अपने जीवन में जिस परिमाण में भाव-प्रकाशन की क्षमता दिखा सकता है, उसी परिमाण में उसे सफलता होती है। इँगलैंड में स्कूलों की पढ़ाई की जाँच करने के लिये जो कमेटी बैठी थी, उसने उस दिन अपनी रिपोर्ट में लिखा है कि सबसे अधिक ध्यान इन स्कूलों के बालकों की अँगरेज़ी-शिक्षा पर देना चाहिए; क्योंकि अच्छे-से-अच्छे लड़के का भाषाज्ञान आज उतना पूर्ण नहीं होता, जितना २०-२५ वर्ष पहले होता था। जब इँगलैंड की यह दशा है, तो भारतवर्ष का तो कहना ही क्या है ! सम्मेलन को याद रखना उचित है कि अपरिपक्व मस्तिष्क के बालकों के लिये सूरदास के

दो पदों का अर्थ जानना जितना आवश्यक और राष्ट्र के लिये हितकर है, उतना यह जानना नहीं कि १ में $\frac{१}{४}\times\frac{१}{४}\div२$ कितनी बार शामिल है।

इन्हीं कारणों से सम्मेलन के अधिकांश "विशारद" और "रत्न" हिंदी लिखने-पढ़ने में वैसे ही कच्चे हैं, जैसे सरकारी स्कूल कॉलिजों में तालीम पाए हुए हुआ करते हैं। अतएव सम्मेलन को उचित है कि शीघ्र ही पाठक्रम का परिवर्तन कर डाले। इसके सिवा उसे अपना नाम सार्थक करने के लिये साहित्य का संचालन भी करना चाहिए। इसी में उसकी शोभा है, और इसी से उसकी श्रीवृद्धि और उद्देश्य-सिद्धि होगी, अन्यथा नहीं। यह निश्चित है।

उपसंहार

प्यारे भाइयो, अब आप लोगों से भी कुछ निवेदन है। आप जानते ही हैं कि वही राष्ट्र संसार में जीवित रह सकता है, जिसका साहित्य जीवित है—जिसका साहित्य नहीं, उसकी स्थिति भी नहीं। परलोकगत राय देवीप्रसाद "पूर्ण" ने क्या ठीक कहा है—

"अंधकार है वहाँ, जहाँ आदित्य नहीं है;
है वह मुर्दा देश, जहाँ साहित्य नहीं है।"

वास्तव में बात भी ऐसी ही है। साहित्य-हीन राष्ट्र या जाति मुर्दे के समान है। साहित्य पर ही राष्ट्र का जीवन-मरण है। अतएव मातृभाषा के उद्धार के लिये भी पंजाबी भाइयों को उदासीनता त्यागकर कमर कसना चाहिए। माता के मंदिर में भेद-भाव

नहीं है, और न पक्षपात। वहाँ जातपाँत और छूआछूत का विचार नहीं है, और न वर्णविभेद हो। वहाँ राजा,-रंक, धनी-दरिद्र—सबको समान अधिकार और समान स्वतंत्रता है। सरस्वती की सेवा पर सब का ही समान स्वत्व है। इसलिये पंजाब के छोटे-बड़े बालक-बूढ़े, नर-नारी, अमीर-गरीब, हिंदू-मुसलमान, सिख-पार्सी और ईसाई जाति-भेद, वर्णभेद तथा व्यक्तिभेद को भूलकर जगज्जननी के पादपद्म में पुष्पांजलि प्रदान करने के लिये प्रस्तुत हो जाँय। सभी का एक उद्देश्य और एक लक्ष्य हो—सभी का एक ज्ञान और एक ध्यान हो—सभी का एक स्वर और एक तान हो—सभी का एक मन और एक प्राण हो। बस, यही मेरी विनीत प्रार्थना है।

भाइयो, हिंदीमाता करुणा-भरी दृष्टि से पंजाब की ओर देख रही है। क्या आप लोग उसका दुःख दूर न करेंगे? अवश्य करेंगे। आप सब गुण-संपन्न हैं—सब कुछ कर सकते हैं। पर इस विषय में आपकी उदासीनता देख आश्चर्य होता है। क्या यह दुःख और लज्जा की बात नहीं कि मदरास, गुजरात और बंबई में तो हिंदी का प्रचार हो, और पंजाब पीछे रहे? अभी कुछ नहीं बिगड़ा है। अभी समय है। आइए, हिंदी के लिये तन-मन-धन अर्पण करने की प्रतिज्ञा कीजिए।

बहनो, आओ तुम भी सहायता करो। यह मैं जानता हूँ कि आजकल पंजाब में जो कुछ थोड़ी-सी हिंदी की चर्चा है, उसमें तुम्हारा भी हाथ है। पर इतने से ही संतोष कर लेना उचित नहीं। और भी कुछ करो। भावी संतान की शिक्षा-दीक्षा तुम्हारे

ही ऊपर है । तुम उन्हें चाहे जैसा बना सकती हो । जहाँ तक बने, विदेशी भाव और भाषा की छूत से उन्हें बचपन से बचाओ । हिंदी का प्रेम उनमें जगाओ—स्वयं पढ़ो, और उन्हें पढ़ाओ ।

प्यारे नवयुवको, तुमसे भी कुछ कहना है । मुझे तुम्हारा ही भरोसा है । इसी से तुम से कहता हूँ । पंजाब की लज्जा तुम्हारे हाथ है । पंजाब में हिंदी का प्रचार जैसा चाहिए, वैसा अब तक नहीं हुआ है । यह पंजाब के लिये बड़े कलंक की बात है । तुम चाहो, तो इस कलंक को शीघ्र दूर कर सकते हो । मातृभाषा राष्ट्र-भाषा हिंदी की सेवा करना तुम्हारा परम धर्म है । इससे विमुख मत हो । उठो—कमर कसो । इसकी सेवा में प्राण भी जाँय, तो परवा न करो । सिंह होकर शृगाल बनने की चेष्टा मत करो । सिंह को जंगल का राजा किसने बनाया ? उसके लिये न दरबार हुआ, और न जुलूस निकला; पर वह मृगराज कहलाता है । सिंह अपने बाहुबल से मृगेंद्र बना है । तुम भी माता के सच्चे सुपूत बनो, और माता का भाषा-भांडार ज्ञान-विज्ञान से भर दो । और क्या-क्या करना है, वह भी सुन लो—

(१) तुमने जो कुछ ज्ञान प्राप्त किया है या करोगे, उसे हिंदी द्वारा अपने देशवासियों को बाँट दो । जहाँ जो अच्छी बातें मिलें, उन्हें अपनी भाषा में ले आओ । जापानी अँगरेज़ी पढ़ते हैं, और उसमें जो कुछ काम की चीज़ पाते हैं, उसे जापानी भाषा में उल्था कर लेते हैं । इससे जापानी साहित्य दिन-दिन उन्नत होता जाता है । बंगाली, गुजराती और मरहठों ने भी यही करके अपने-अपने साहित्य की श्रीवृद्धि की है, और कर रहे हैं । तुम्हें भी यही करना चाहिए ।

(२) जिस तरह कलकत्ता-विश्वविद्यालय ने एम० ए० परीक्षा में बँगला, हिंदी आदि देशी भाषाओं को स्थान दिया है, उसी प्रकार पंजाब-विश्वविद्यालय की एम० ए० परीक्षा में भी हिंदी को स्थान दिलाओ। कलकत्ता-विश्वविद्यालय के वाइस चांसलर, कलकत्ताहाईकोर्ट के जज सर आशुतोष मुकर्जी, सरस्वती, भी चाहते हैं कि भारत की सब युनिवर्सिटियों में एम० ए० की परीक्षा देशी भाषाओं में हो। हवड़ा-साहित्यसम्मेलन के सभापति होकर आपने अपने भाषण में कहा था—"बंबई, मदरास, पंजाब, इलाहाबाद प्रभृति स्थानों के विश्वविद्यालयों को देशी भाषा में एम० ए० की परीक्षा चलानी होगी। केवल बंगाल में चलाने से पारस्परिक फल Reciprocal की संभावना बहुत थोड़ी है।" इसलिये पूरा प्रयत्न करो, जिसमें केवल एम० ए० की ही परीक्षा में हिंदी को स्थान न मिले, बल्कि सब परीक्षाओं में ही हिंदी का बोलबाला रहे।

(३) हिंदी भाषा के प्रचार के लिये स्थान-स्थान पर पुस्तकालय वाचनालय खोले जायँ। आरंभिक शिक्षा हिंदी में दी जाय, और नगर-नगर और गाँव-गाँव में विद्यापीठ खोले जायँ।

(४) अदालतों में नागरी-अक्षर और सरल हिंदी जारी हो, जो सबकी समझ में आसानी से आ जाय।

(५) बहीखाते नागरी अक्षरों में लिखे जाँय, जिससे लिखने-पढ़ने में सुबीता हो।

(६) आर्यसमाज, सनातनधर्म-सभाओं और प्रांतीय परिषदों में हिंदीभाषा का व्यवहार तो होता ही है। इसके प्रचार की ओर भी इन्हें ध्यान देना चाहिए।

(७) हिंदीसाहित्य-सम्मेलन की परीक्षाओं का पूर्ण प्रचार हो, जिसमें पंजाबी बड़ी संख्या में परीक्षाओं में प्रतिवर्ष समिलित हुआ करें।

(८) अँगरेज़ी पढ़े लोगों को आपस में सदा हिंदी बोलना और हिंदी में ही पत्र-व्यवहार करना चाहिए। अपनी भाषा के रहते दूसरी भाषा से काम लेना बड़ी ही लज्जा की बात है।

(९) विहार, युक्तप्रांत और मध्यप्रदेश में जिस प्रकार प्रांतीय हिंदीसाहित्य-सम्मेलन स्थापित हो अपने-अपने प्रांत में हिंदी का प्रचार और उपकार कर रहे हैं, उसी प्रकार पंजाब में भी प्रांतीय सम्मेलन की स्थापना होनी चाहिए।

सज्जनो, यह कोई असंभव काम नहीं है। यदि हो भी, तो पुरुषार्थ से उसे संभव बना देना हमारा धर्म है। जिस देश के साहित्य में अर्जुन के पाशुपत अस्त्र प्राप्त करने का वर्णन है, जिस देश के साहित्य में प्रह्लाद के सामने खंभे से नृसिंह भगवान का आविर्भूत होना लिखा है, जिस देश के साहित्य में हनूमानजी का समुद्र लाँघ जाना वर्णित है, उस देश के निवासियों के लिये असंभव या असाध्य कुछ नहीं है। वेद, उपनिषद्, रामायण, महाभारत प्रभृति जिनके आदर्श ग्रंथ,—सीता, सावित्री, अरुंधती, लोपामुद्रा जिनकी आदर्श सती नारियाँ,—राम, कृष्ण, युधिष्ठिर, शिवि, दधीचि, भीष्म, अर्जुन जिनके आदर्श पुरुष,—भरत, लक्ष्मण, भीम, जिनके आदर्श भ्राता हैं, उन्हें किस बात का अभाव है? उत्साह से उठिए और राष्ट्रभाषा हिंदी का हित-साधन कीजिए, जिससे स्वराज्य का सुमार्ग सुगम हो जाय।

सज्जनो, भाषण समाप्त करने के पहले यह निवेदन करना उचित समझता हूँ कि आप लोगों ने आज जो सम्मान और स्वागत किया, वह मेरा नहीं, सरस्वती-सेवक और साहित्य-सेवी का है। मैं तो निमित्त-मात्र हूँ। आपकी इस कृपा और दया के लिये वारंवार धन्यवाद दे परब्रह्म परमात्मा से प्रार्थना करता हूँ कि आप लोग सरस्वती-सेवकों और हिंदीसाहित्य-सेवियों का सम्मान और स्वागत सदैव इसी तरह किया करें।

सज्जनो, पहली वार पंजाब में जब सम्मेलन निमंत्रित हुआ था, तब मैंने पंजाबी भाइयों के लिये कुछ पद्य-रचना की थी। दैव-दुर्विपाक से उस समय सम्मेलन पंजाब में न पहुँच सका! बस, मेरी लालसा पर भी पाला पड़ गया। अखिलेश्वर अंतर्यामी के असीम अनुग्रह से आज यह आनंदमय अवसर—सुखमय सुंदर शुभ समय—मंगलमय मधुर मुहूर्त मिल गया है। वह पुराना पद्य पढ़ भाषण समाप्त करता हूँ। पूर्ण आशा है, प्यारे पंजाबनिवासी मेरी प्रार्थना पूरी करने में कभी पीछे पैर न देंगे।

भक्तिसहित निज इष्टदेव कौ करि आराधन;
उठौ, उठौ प्रिय-बंधु करौ हिंदी-हितसाधन।
हम हिंदी के पुत्र हमारी हिंदी माता;
हिंदू-हिंदी-हिंद नाम कौ निरखौ नाता।
हिंदू हिंदी त्यागि बनत जो इंगलिस-दासा;
सो निज हाथन करत आप हैं अपनो नासा।
कुल-मरजादा लखौ और निज रूप निहारौ;
कटि कसिकै बस उठौ, वेगि हिम्मत मत हारौ।

धन-बल-गौरव-मान-सुजस सब भए तिरोहित;
आरजकुल की गरिमा केवल अजहुँ प्रकाशित।
आर्यवंस-संतान अजहुँ हमलोग कहावत;
आर्यवंस कौ रक्त अजहुँ नस-नस मैं धावत।
वही वेद-उपनिषद्, वही सब ग्रंथ पुरातन;
अजहुँ वही षडदर्शन, जापै मोहित सब जन।
वही विंध्य-गिरिराज, वही हिमसैल सुहावन;
वही गंग औ जमुन, वही सरजू-जल पावन।
पृथिवी वही पवित्र, वही नभमंडल तारे;
फिर हम सब क्यों रहैं मौन ह्वै मन कौं मारे
करि-करि नव उत्साह उठौ सब हिंदीभाषी;
हिंदी कौं अपनाय मिटावौ दुख की रासी।
बहुत दिनन लौं भूले-भटके, अब जिन भूलौ;
करि त्रिशंकु की नकल बीच में मत अब झूलौ।
खड़ी-पड़ी औ अड़ी-गड़ी बोलिनकौ रगरौ;
करौ न कबहूँ भूलि जानि यह झूठौ झगरौ।
हिंदू-आरज नामन कौ झगरौ मत ठानौ;
जगन्नाथ की कही भला इतनी तौ मानौ।
नाम माहिं कछु नाहिं, काम करिकै दिखराऔ;
हिंदी कौ परचार यहाँ पै तुरत कराऔ।
वीरभूमि पंजाब माँहि हिंदी है आई;
पंजाबिन कौं उचित अवस बाकी सेवकाई।
भए उपस्थित आज यहाँ पै जो सब भाई;
करैं प्रतिज्ञा अटल यही निज भुजा उठाई।

हिंदी में हम लिखें पढ़ें, हिंदी ही बोलें;
नगर-नगर में हिंदी के विद्यालय खोलें।
हिंदी के हितचिंतन में नित ही चित दैहैं;
भूलि कबहुँ नहिं इंगलिश कौ हम नामहु लैहैं।
हिंदी की अब तन-मन-धन सौं सेवा करिहैं;
विघ्न, विपद औ बाधा सौं हम नेक न डरिहैं।
यह पन पूरो करे, सदा माधव मंगलमय;
हमहुँ कहैं हिंदी, जय, हिंदी, जय, हिंदी, जय।